ISSN: 0971-8478

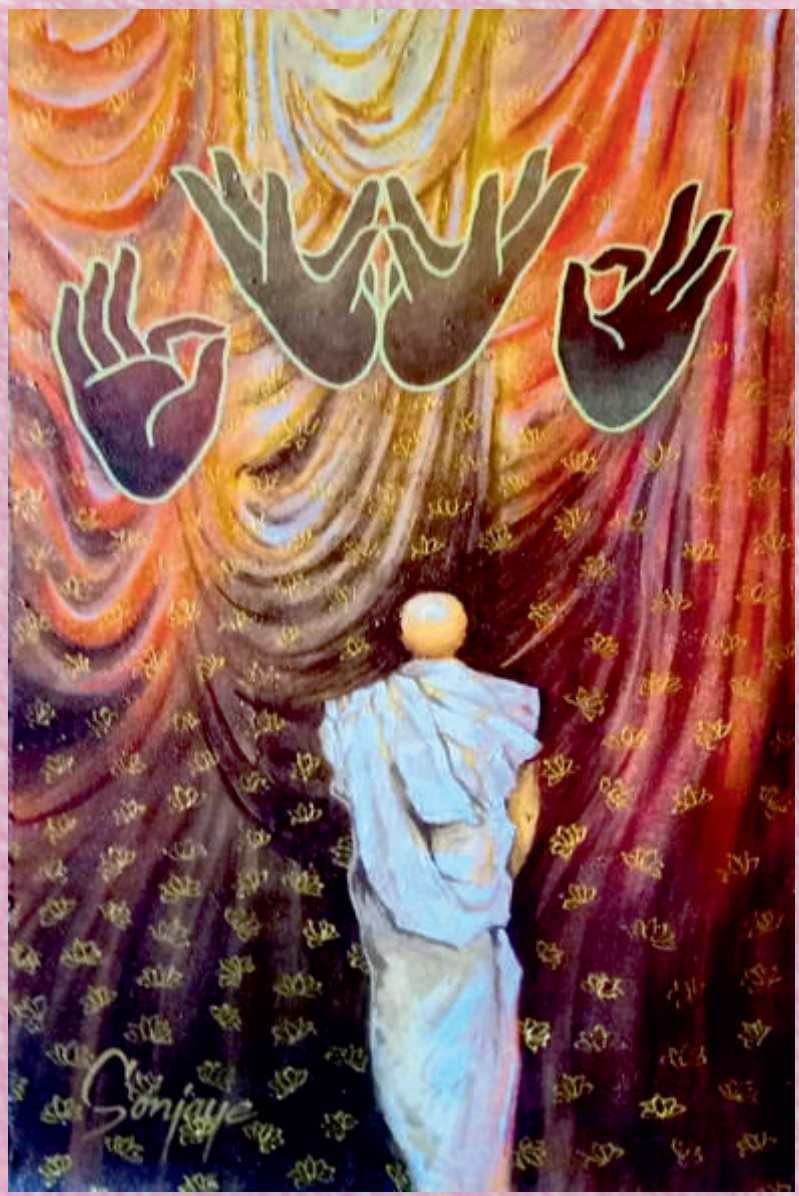
जुलाई 2020

₹ 22

आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

साहित्य और संस्कृति का मासिक



• रामनिहाल गुंजन • जीवन सिंह • मदन कश्यप • सुभाष शर्मा • राजेश कुमार व्यास • सुभाष राय • राजकुमार कुम्भज • राजनारायण बोहरे • राजेंद्र राजन • नीलांशु रंजन • केशव शरण • मीना बुद्धिराजा • संजीव श्रीवास्तव • पंकज चौधरी • नीरज नीर • निशात असलम • देवेश पथ सारिया • पूनम गिरधानी • विकास कुमार यादव • नंदा पांडेय • राहुल कुमार बोयल • सर्वेश्वर प्रताप सिंह

अब प्रिंट संस्करण और ई-बुक संस्करण उपलब्ध

भारत 2020



भारत सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों और उपलब्धियों की आधिकारिक जानकारी देने वाला वार्षिक संदर्भ ग्रंथ

मूल्यः प्रिंट संस्करण ₹ 300/- ई-बुक संस्करण ₹ 225/-

पुस्तकें खरीदने के लिए प्रकाशन विभाग की
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in पर जाएं

ई-बुक एमेज़ॉन और गूगल प्ले पर उपलब्ध

देश भर में प्रकाशन विभाग के विक्रय केन्द्रों और
पुस्तक विक्रेताओं से भी खरीद सकते हैं

ऑर्डर के लिए संपर्क करें :
फोन : 011-24367260
ई-मेल : businesswng@gmail.com
हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए
कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।

प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्पलेक्स,
लोधी रोड नई दिल्ली -110003
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

सूचना भवन की पुस्तक दीर्घा में पधारें

ट्विटर पर फोलो करें @ DPD_India

इस अंक में

लेख

गोदान : किसान-जीवन की अंतहीन कष्टगाथा : जीवन सिंह 6

धूमिल का काव्य-विवेक और नामवर सिंह : रामनिहाल गुंजन 11

केदारनाथ सिंह : काव्य-संसार... 17

सिनेमा सृजन का इतिहास : राजेश कुमार व्यास 21

परिवार में लौटता हिन्दी सिनेमा : संजीव श्रीवास्तव 29

संस्मरण : कुल्लू, नग्गर और देविका रानी : राजेंद्र राजन 33

शताब्दी स्मरण

रेणु के उपन्यास और भारतीय समाज : सर्वेश्वर प्रताप सिंह 14

कहानी

अम्मा : राजनारायण बोहरे 31

पागलख़ाना : नीरज नीर 41

तिनकों की गुड़िया : निशात असलम 45

दोहे/कविताएँ

दोहे : सुभाष शर्मा 23

तीन कविताएँ : मदन कश्यप 24

तीन कविताएँ : केशव शरण 25

कविता : सुभाष राय 26

दो कविताएँ : राजकुमार कुम्बज 28

दो कविताएँ : पूनम गिरधानी 37

दो कविताएँ : देवेश पथ सारिया 38

दो कविताएँ : राहुल कुमार बोयल 39

दो कविताएँ : नन्दा पांडेय 40

श्रद्धांजलि

ज़िंदगी कैसी है पहेली : नीलांशु रंजन 48

मूल्यांकन

साधारण की असाधारणता की महिमा : पंकज चौधरी 49

काव्य-संवेदना का नया क्षितिज : मीना बुद्धिराजा 52

पुस्तक परिचय

भारत की खोज : कान्ता रानी 54

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 56

आजकल स्थापित 1945

वर्ष : 76, अंक : 3
पूर्णांक : 908
जुलाई, 2020
आषाढ़-श्रावण 1942

प्रधान संपादक
राकेशरेणु

संपादक
फरहत परवीन

संपादन सहयोग
शुभ्रा सिंह

आवरण : **संजय मौर्य**
आवरण सज्जा : **राजेश कुमार**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल
प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 601डी, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड
नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 2436 2915
ई.मेल : ajkalhindi@gmail.com
website :
www.publicationsdivision.nic.in
फेसबुक www.facebook.com/
publicationsdivision

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
वी. के. मीणा

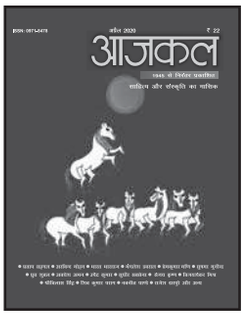
सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 230 रुपये
दो वर्ष : 430 रुपये
तीन वर्ष : 610 रुपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :
व्यापार व्यवस्थापक
कमरा नं. 56, सूचना भवन
सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड
नई दिल्ली-110003
फोन नं. 011-24367453
ई-मेल : pdjucir@gmail.com
helpdesk1.dpd@gmail.com

टाइपसेट : **एजुकेशनल स्टोर्स, लेजर टाइपसेटिंग**

हमारे विक्रय केंद्र : नई दिल्ली: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, दूरभाष : 011-24367260, **लखनऊ** : हॉल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, **पटना** : बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, **मुम्बई** : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुम्बई, दूरभाष : 9522-27570686, **बंगलुरू** : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, **अहमदाबाद** : अखंडानंद हॉल, द्वारा पत्र सूचना कार्यालय, द्वितीय तल, सीएनआई चर्च के पास, मदर टेरेसा रोड, भद्र, दूरभाष : 079-26588669, **हैदराबाद** : कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादि गुडा-500080, **चेन्नई** : राजाजी भवन, बेसेंट नगर, दूरभाष : 044-24917673, **तिरुअनंतपुरम** : गवर्मेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650

● पत्र



भ्रम और भ्रांति को स्थिरता

'आजकल' के अप्रैल, 2020 अंक में संजय कृष्ण का लेख 'गोपाल गहमरी और समालोचक' पढ़ा। इस लेख के संबंध में एक छोटी-सी टिप्पणी है कि 'समालोचक' जो आलोचना की आधुनिक युग की पहली पत्रिका थी, का प्रकाशन 1902 में हुआ। इस बात का उल्लेख जहाँ-तहाँ पत्रकारिता कोश और पत्र-पत्रिकाओं में हुआ है लेकिन इस पत्रिका के संपादक गहमरीजी थे या गुलेरीजी, इसके बारे में साहित्य में भ्रम और भ्रांति है। संजय कृष्ण के इस आलेख से यह स्पष्ट हुआ की 1902 में गहमरीजी इसके प्रथम संपादक थे और यह नागरी भवन, जैपुर से प्रकाशित हुआ! दूसरे संपादक गुलेरीजी थे जो 1903 में आए। बार-बार उत्पन्न होती इस भ्रांति का यह भी कारण था कि यह प्रकाशित कहीं और होता था और इसके संपादक कहीं और रहते थे।

व्यक्ति की तरह भाषा का भी अपना परिवार होता है और वह धीरे-धीरे विकसित होता है। जब पंडित बालकृष्ण भट्ट ने 'भारत मित्र' में अपना लेख लिखा था, तो मूल लेख में 'विकास' शब्द में 'श' प्रयुक्त हुआ था। यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि 'सरस्वती' के संपादक, महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त 'अन्यस्थिरता' शब्द को लेकर 'हिन्दी प्रदीप' के संपादक 'बाल मुकुंद गुप्त' के साथ लंबा विवाद हुआ। अंततः 'अन्यस्थिरता' शब्द स्थिर हो गया, अस्थिर के रूप में। तब से यही शब्द स्थिर हो गया। संजय कृष्ण के इस महत्वपूर्ण आलेख के लिए बधाई!

-रूपा सिंह
नई दिल्ली

ईमानदार रचनागत सहिष्णुता

'आजकल' का अप्रैल 2020 अंक पढ़ने लगा तो पढ़ता ही गया। गोपाल गहमरी और पत्रिका 'समालोचक' के बारे में जानकारी पाना, किसी धरोहर के बारे में जानने जैसा लगा। 'लघु पत्रिकाएँ : अवधारणा और परंपरा' में प्रतिष्ठित स्तंभकार, अन्वेषी लेखक भारत भारद्वाज ने लघु पत्रिका आंदोलन पर अच्छी रोशनी डाली है। भारतेंदुयुगीन साहित्यिक पत्रिकाओं से शुरू कर, वे सातवें दशक तक आए हैं। कम जगह ली है उन्होंने। इस लेख को और स्पेस चाहिए था। उन्होंने ठीक लिखा है- "लोगों ने अपनी अभिव्यक्ति को स्वर देने के लिए ख़ुद की पत्रिकाएँ निकालीं, लेकिन धीरे-धीरे इन लघु पत्रिकाओं से जुड़े हुए लोग पत्रिकाओं को सीढ़ी बनाकर बड़े प्रतिष्ठानों की उन्हीं पत्रिकाओं में जाने लगे जिनके विरुद्ध उन्होंने लघु पत्रिका निकाली थी। दूसरी बात यह हुई कि ये पत्रिकाएँ व्यक्तिगत राग-द्वेष का माध्यम बनते हुए शत्रुता और मित्रता निभाने का मंच बनने लगीं अर्थात् गंभीर साहित्यिक सरोकार कम होता गया। तीसरी और सबसे दुःखद बात यह हुई कि लोगों ने इन पत्रिकाओं को अपना व्यवसाय बना लिया और नौकरी न करने की क्षतिपूर्ति इन पत्रिकाओं से की जाने लगी। सारी ऊर्जा भारी-भरकम विज्ञापन जुटाने में ख़र्च होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि पत्रिकाएँ मोटी हो गई हैं।"

प्रतिष्ठित साहित्यकार गिरिराज किशोर, कृष्ण बलदेव वैद और गंगा प्रसाद विमल को स्मरण करते हुए अच्छी सामग्री दी गई है पर खगेंद्र ठाकुर कैसे छूट गए!

शैलेंद्र के जनप्रिय गीतों पर, मुक्तछंद के कवि मंगलेश डबराल का लिखना भला लगा। यह भी एक तरह की सहिष्णुता है, केवल विधागत नहीं, एक ईमानदार रचनागत सहिष्णुता।

इसी क्रम में नीरज कुमार मिश्र का प्रगतिशील कविता के प्रमुख स्तंभ कवि केदारनाथ अग्रवाल पर लेख 'जनक्रांति का बिगुल फूँकता कवि' बहुत सुगठित और केदारजी की कविताओं में प्रकृति व जन सरोकार, संघर्ष व चेतना को रेखांकित करता हुआ लेख है, संक्षिप्त किंतु कारगर। सुधीर सक्सेना की कविताओं ने झंकृत कर दिया, ख़ासकर 'एक शब्द' और 'पोस्टमार्टम मत करो' ने।

'प्रसंगवश' में कालजयी कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु के संघर्षशील जीवन और साहित्यकार व जनांदोलनों में खड़े योद्धा रेणु को जिस गरिमापूर्ण भंगिमा से याद किया गया है, वह देखते ही बनता है।

-शिव कुमार पराग
वाराणसी

नोट : स्व. खगेंद्र ठाकुर पर एक श्रद्धांजलि लेख 'आजकल' के मार्च 2020 अंक में प्रकाशित किया गया था।

समाज का चित्रण

'आजकल' का हर अंक अत्यंत रुचिकर और नई ताज़गी से भरपूर होता है। साहित्य के अलावा संस्कृति, इतिहास, विज्ञान आदि के इंद्रधनुषी रंगों के साथ समकालीन समय तथा समाज का चित्रण भी सराहनीय है। 'आजकल' में अन्य भारतीय एवं विदेशी भाषाओं की अनूदित कहानियों का भी एक सिलसिला शुरू करें।

-निशात असलम
दिल्ली

साहित्यिक गतिविधियों की झाँकियाँ

'आजकल' का अप्रैल, 2020 अंक पढ़ा। 'आजकल' ने वर्षों बाद भी अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखी है। मैं 55 वर्षों से इसे निरखता आ रहा हूँ। प्रस्तुत अंक का संपादकीय तथा प्रेमकुमार मणि का लेख विशेष रूप से सराहनीय है। इसके अलावा नीरज कुमार मिश्र, प्रताप सहगल, अखिलेश आर्येंदु, मंगलेश डबराल, सुधा उपाध्याय तथा अरविंद मोहन की रचनाएँ प्रभावोत्पादक हैं। चार पृष्ठों में फैला कविताओं का गुलदस्ता भी अति सराहनीय है। प्रसंगवश कुछ सलाह है- आवरण पर छपी कलाकृति का शीर्षक भी दें और चित्र के नीचे रचनाकार का नाम भी दें। 'आजकल' पत्रिका की गौरव-गरिमा को विस्तार दें- आँचलिक रचनाएँ- मैथिली, भोजपुरी, मगही, पंजाबी कविताएँ भी शामिल करें। मध्यवर्ती पृष्ठ पर साहित्यिक गतिविधियों की सचित्र झाँकियाँ प्रस्तुत करें।

-राधाकांत भारती
नई दिल्ली

प्रसंगवश

सोशल मीडिया नियामत और आफ़त दोनों है। जिस तरह इसने स्थान और काल की दूरियाँ कम की है वह किसी नियामत से कम नहीं लेकिन साथ-ही यह ग़लत और भ्रामक सूचनाओं और जानकारियों के त्वरित प्रसार का माध्यम भी बना है। वह इसे किसी आफ़त से कम साबित नहीं करता। इन भ्रामक जानकारियों का शिकार ज़्यादातर साफ़ हृदय वाले सीधे-सरल लोग ही होते हैं। इससे ज्ञानार्थियों, शोधार्थियों का भी भारी नुकसान हो रहा है। पिछले दिनों विक्रमादित्य को लेकर भी ऐसी ही एक पोस्ट वायरल हुई जिसमें उनके वंश, काल, उपलब्धियों आदि को लेकर बेहद भ्रामक जानकारियाँ थीं।

वस्तुत: जिन्हें हम विक्रमादित्य के नाम से जानते हैं वे निश्चय ही बड़े प्रतापी राजा थे। उन्होंने अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। उनके राज्य में समृद्धि थी, प्रजा खुशहाल थी और साहित्य-कला विधाओं का भरपूर विकास हुआ। इन विधाओं से जुड़े विद्वानों को राज्याश्रय और सम्मान प्रदान किया गया। उनके राज्य में सोने के सिक्के प्रचलन में थे लेकिन भारत में सोने के सिक्कों का चलन उन्होंने नहीं उनके पूर्वजों ने आरंभ किया। यह मान्यता भी सही नहीं है कि विक्रमी संवत् की शुरुआत विक्रमादित्य से हुई।

किसी भी सफल शासक के नाम के साथ अनेक गौरवशाली कथाएँ और किंवदंतियाँ जुड़ जाती हैं। ज्ञात और प्रामाणिक इतिहास बताता है कि प्राचीन भारत में चंद्रगुप्त नाम के तीन शासक हुए। तीनों एक से बढ़कर एक प्रतापी। पहले को हम चंद्रगुप्त मौर्य के नाम से जानते हैं जिनके नाम से मौर्य वंश (322-187 ई.पू.) की स्थापना हुई। विष्णु गुप्त अथवा चणक पुत्र चाणक्य उनके परामर्शदाता थे। अशोक उनके ही पौत्र थे। अशोक के बाद इस वंश के सात उत्तराधिकारियों ने शासन किया लेकिन उनमें से किसी को भी चंद्रगुप्त मौर्य अथवा अशोक जैसी कीर्ति हासिल नहीं हो पाई। अशोक के उत्तरवर्ती शासकों की ताकत निरंतर कम होती गई और अंतत: इस वंश का पतन हो गया।

मौर्य वंश के पतन के बाद के लगभग पाँच सौ साल बहुत ही उथल-पुथल और आंतरिक कलह से भरे थे। महान मगध साम्राज्य अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गया था जिनके शासक प्राय: आपस में लड़ते रहते थे। लगभग पाँच शताब्दी बाद गुप्त वंश (320-550 ई.) की शुरुआत श्रीगुप्त से हुई मानी जाती है। इस बीच अनेक छुटभैया शासकों ने मगध अथवा उसके छोटे-छोटे भूभागों पर राज किया ('दी गज़ेटियर ऑफ़ इंडिया-हिस्ट्री एंड कल्चर', वाल्यूम 2, संपादक : पी. एन. चोपड़ा, अध्याय संपादक : एच. डी. संकलिया, लेखक : एच. डी. संकलिया, बी. बी. लाल और बी. सुब्बाराव, प्रकाशक : प्रकाशन विभाग) के अनुसार श्रीगुप्त और उनके पुत्र घटोत्कच ने इन्हीं में से एक छोटे से इलाके पर शासन किया जिसका विस्तार वर्तमान झारखंड और बंगाल के उत्तरी हिस्से तक था। चंद्रगुप्त प्रथम घटोत्कच के पुत्र थे। कुछ इतिहासकारों की राय है कि चंद्रगुप्त प्रथम ने ही गुप्त वंश की स्थापना की। लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह के बाद उनके राज्य को शक्ति प्राप्त हुई और उन्होंने अपनी सीमाओं का विस्तार किया। एक बार फिर से मगध की राजधानी पाटलिपुत्र बनी। इन्हीं चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल में सर्वप्रथम स्वर्ण मुद्राएँ मिलने के प्रमाण मिलते हैं जिन पर लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी के चित्र उत्कीर्ण हैं।

चंद्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त ने इस साम्राज्य का भरपूर विस्तार किया और उत्तर में चंबल से लेकर पूर्व में ब्रह्मपुत्र तक अपने राज्य की सीमा को फैलाया किया। इसके अतिरिक्त पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के अनेक शासकों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली और समुद्रगुप्त के अधीन रहकर शासन किया। इतिहासकारों ने इसीलिए समुद्रगुप्त को 'नेपोलियन ऑफ़ इंडिया' की उपाधि दी है।

चंद्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त के पुत्र और चंद्रगुप्त प्रथम के पौत्र थे। वे अपने पिता की तरह ही बड़े योद्धा थे। उन्होंने मगध की सीमाओं का और विस्तार किया लेकिन गुप्त वंश के शासकों में से कोई भी मगध की सीमाओं को फैलाया जितना मौर्य वंश के शासकों-चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक के काल में हुआ था। चंद्रगुप्त द्वितीय की उपलब्धि यह थी कि उन्होंने सौराष्ट्र क्षेत्र में शकों के आख़िरी गढ़ पर विजय प्राप्त की और रूद्रसिम्ह तृतीय पर विजय के साथ ही इस भूभाग से यूनानी क्षत्रपों का साम्राज्य समाप्त हो गया। पश्चिम की समुद्री सीमा पर कुशल निगरानी के लिए उन्होंने पाटलिपुत्र के साथ-साथ अपनी दूसरी राजधानी मालवा क्षेत्र के उज्जैन में स्थापित की।

गुप्त वंश के समय तक शासकों ने अपने नाम के आगे अनेक आलंकारिक उपाधियाँ लगाना आरंभ कर दिया था जिसकी इससे पहले परंपरा नहीं थी। गुप्त साम्राज्य के संस्थापक श्रीगुप्त तथा घटोत्कच अपने नाम के आगे 'महाराज' की उपाधि लगाते थे। चंद्रगुप्त प्रथम ने अपने नाम के आगे 'महाराजाधिराज' की उपाधि लगाना आरंभ किया। चंद्रगुप्त द्वितीय के पराक्रम और विशेष रूप से शकों के शासन को निर्मूल करने जैसी उपलब्धियों के कारण उन्हें अप्रत्याशित लोकप्रियता और यश की प्राप्ति हुई जिसके बाद वे विक्रमादित्य की उपाधि लगाने लगे। विक्रमादित्य अर्थात् सूर्य की तरह तेजस्वी और पराक्रमी। इस तरह ज्ञात इतिहास में मगध नरेश चंद्रगुप्त द्वितीय को ही विक्रमादित्य कहा गया है। किंवदंतियों और लोककथाओं में विक्रमादित्य नामक जिस सम्राट को उज्जैनी अथवा मालवा के शासक के रूप में दिखाया गया है तथा जिनके नाम से 'विक्रम बेताल' और 'विक्रम पच्चीसी' जैसी अनेक लोककथाएँ आज भी लोकप्रिय हैं वे चंद्रगुप्त द्वितीय ही थे। शकों पर विजय के बाद उन्होंने अपने पितामह की परंपरा में अपनी अश्वारोही चित्र वाली स्वर्ण मुद्रा जारी की। उनके राज्य में भरपूर समृद्धि और शांति थी। उन्होंने कलाओं का विकास किया और गुणवंतों, साहित्यकारों को अपने दरबार में जगह दी। चीनी तीर्थयात्री फाह्यान ने उनके शासनकाल में व्याप्त शांति, समृद्धि और सुरक्षा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस विवरण से इतर उनके वंश के बारे में सोशल मीडिया में आने वाले वर्णन कोरी कल्पना हैं।

गुप्तकाल को स्वर्णयुग केवल इसलिए नहीं कहा जाता कि चंद्रगुप्त प्रथम ने सोने की मुद्राएँ प्रचलित कीं। इतिहास की इतनी स्थूल व्याख्या कोई नासमझ ही कर सकता है। सभी इतिहासकार इस बात पर एकमत हैं कि इस काल में शांति, सुरक्षा और समृद्धि के साथ-साथ मानव की सृजनशील प्रतिभा ने नए-नए शिखर छुए- चाहे गणित का सिद्धांत हो या दर्शन का, चित्रकला हो या व्यापार- हर क्षेत्र में यह बात लागू होती थी। यह बौद्धिक उत्कर्ष का काल था। परस्पर विचार-विमर्श, बहस-मुबाहिसे, सहमति-असहमति और नए-नए सिद्धांतों की प्रतिपादन का काल। चाहे वह शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में हो या दर्शन के क्षेत्र में, ईसा की चौथी और पाँचवीं शताब्दी भारत की सर्वांगीण उन्नति का काल सिद्ध हुआ। दर्शन, साहित्य, विज्ञान, कला आदि सभी क्षेत्रों ने इस अवधि में नई मंज़िलें तय की। यह धार्मिक सौहार्द्र का काल था और आर्थिक उन्नति का भी। न केवल कालिदास जैसे महाकवि बल्कि आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, वराह मिहिर जैसे विज्ञानविद् तथा असंग, वसुबंधु, दिङ्नाथ, ईश्वर कृष्ण जैसे महान दार्शनिक भी इसी काल में हुए। इनमें से सभी दार्शनिक बौद्ध थे। अत: गुप्त काल को केवल स्वर्ण मोहरों के लिए ही नहीं बल्कि भारत के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए सोने की चिड़िया कहा जाता है। मौर्य वंश के पतन के बाद बौद्धों के ख़िलाफ़ जो द्वेष भरी कार्यवाही हुई उससे सर्वथा अलग रहकर गुप्त काल में सभी धर्मों को समान अवसर प्रदान किया गया। उन्हें राज्य द्वारा सहायता प्रदान की गई और समान रूप से विकसित होने के मौक़े उपलब्ध कराए गए। इस काल में धर्म अथवा मत और संप्रदाय के आधार पर किसी किस्म का भेदभाव नहीं था। इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य में जानना किसी भी साहित्यिक के लिए आवश्यक है, बल्कि साहित्यिक ही क्यों, कहना चाहिए कि यह हम सभी नागरिकों के लिए आवश्यक है।

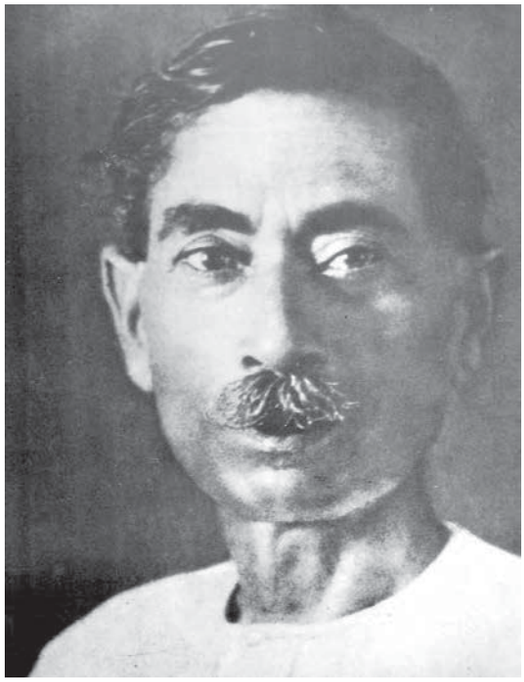
● जन्मदिवस पर



गोदान
किसान-जीवन की अंतहीन कष्टगाथा

जीवन सिंह

'गोदान', प्रेमचंद के जीवन के आख़िरी पड़ाव में लिखा हुआ आख़िरी लेकिन पहले से ज़्यादा परिपक्व, पूर्ण और कलात्मक उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1935 ई. में हुआ था। उल्लेखनीय है कि इस समय तक प्रेमचंद अपनी लेखन-यात्रा में सभी तरह के प्रयोग करते हुए इस निष्कर्ष पर लगभग पहुँच चुके थे कि तत्कालीन शहरकेंद्रित राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में गाँव और किसान की चिंता के लिए कोई विशेष और ठोस कार्यक्रम नहीं बचा रह गया है। आंदोलन पर देशी पूँजीवादी मानसिकता का कब्ज़ा उस समय तक लगभग हो चुका था। वैसे भी उस समय की कांग्रेस का लक्ष्य औपनिवेशिक सत्ता से मुक्ति प्राप्त करना था। इस प्रक्रिया में उसने देशी सामंतवाद को खुला छोड़ दिया था। मुख्य अंतर्विरोध देशी और विदेशी पूँजी का था, इस वजह से कांग्रेस में सभी तरह के लोगों को जगह मिली हुई थी। उसमें धुर दक्षिणपंथी मज़हबी लोग भी थे, मध्यमार्गी भी और कांग्रेस सोशलिस्ट वामपंथी भी। सच तो यह है कि वह एक मंच था जो अंग्रेज़ी शासन से मुक्ति चाहता था। आज़ादी मिलने के बाद कैसा हिन्दुस्तान बनेगा, यह तत्कालीन नेतृत्व पर निर्भर था। इसके लिए गाँधीजी ने 1909 ई. में अपनी 'हिन्द स्वराज' की धारणा ज़रूर पेश की थी लेकिन उस पर शायद ही किसी ने अपना ध्यान दिया हो और विश्वास किया हो। वह आज़ादी के लिए चलने वाले आंदोलन का एक दस्तावेज़ बनकर रह गया था। बहरहाल आज़ादी की लड़ाई में धर्म के केंद्र बन गए थे। इसी का परिणाम है कि उसके भीतर से धर्म पर आधारित दो राष्ट्र उभरकर आए जहाँ एक तरफ़ अकेला धर्म था तो दूसरी तरफ़ सर्वधर्मसद्भाव। धर्म दोनों ही जगह पर था, धर्मनिरपेक्षता का वास्तविक रूप कहीं नहीं था। यह तथ्य है कि अंग्रेज़ी औपनिवेशिक काल में चली शोषणकारी नीतियों की वजह से भारतीय गाँव और शहर का रिश्ता एक तरह से शोषक और शोषित का बन चुका था। तत्कालीन शहरी सुखजीवी शोषक अमला गाँव के किसान को जिस तरह से उत्पीड़ित करता था, इसके अनेक भाँति के सजीव और प्रामाणिक दृश्य-परिदृश्य प्रेमचंद के साहित्य में विस्तार से दर्ज हैं। प्रेमचंद ने इस रिश्ते का पर्दाफ़ाश अपने 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में ख़ासतौर से कई जगहों पर किया है। वे जानते थे कि ग्रामीण किसान-मज़दूर वर्ग जो कुछ अर्जित करता है उसके पीछे उनकी मेहनत और कड़ा श्रम होता है। इतने पर भी वे ठीक तरह से अपने रोटी-पानी तक का जुगाड़ नहीं कर पाते। वे एक बार नहीं वरन् जीवनभर मृत्यु का सामना करते हैं। हर पल, हर घड़ी मृत्यु उनके दरवाज़े पर दस्तक देती दिखाई देती है। 'गोदान' उपन्यास में होरी के जीवन से संबंधित शायद ही कोई अध्याय ऐसा हो जिसमें मृत्यु, भूख, अभाव और क़र्ज़ का उल्लेख न हो। उपन्यास को पढ़ते हुए पाठक हर क्षण एक किसान की करुणगाथा के प्रवाह में डूबता-उतराता रहता है। वह एक विकट यातनापूर्ण, दर्दनाक, अमानवीय, शर्मनाक, त्रासद और भयावह परिवेश में रहता है। 'गोदान' में जब धनिया को लगता है कि बिरादरी तावान- जुर्माने के रूप में खलिहान से सारा अनाज होरी पंचायत को दे रहा है तो वह भागकर अपने बच्चों की ज़िंदगी के लिए उससे कुछ अनाज छीन लेती है। इस अवसर पर प्रेमचंद ने जो लिखा है वह शायद हमारी आँखें खोल देने के लिए पर्याप्त है। उपन्यासकार ने इस अवसर पर लिखा है, "जब खलिहान में केवल डेढ़-दो मन जौ रह गया, तो धनिया ने दौड़कर उसका (होरी का) हाथ पकड़ लिया और बोली-अच्छा अब रहने दो। ढो तो चुके बिरादरी की लाज! बच्चों के लिए भी कुछ छोड़ोगे कि सब बिरादरी के भाड़ में झोंक दोगे? मैं तुमसे हार जाती हूँ। मेरे भाग्य में तुम्हीं जैसे बुद्धू का संग लिखा था!" यह है हक़ीक़त किसान जीवन की, जो आज भी दूसरे रूप में जीवित है। जैसा



संपर्क : मो. 9785010072, ई-मेल : jeevanmanvi19@gmail.com

तनाव और अन्याय भरा जीवन किसान का होता है वैसा शायद ही पृथ्वी पर और किसी का हो। विडंबना यह है कि हाड़तोड़ मेहनत करते रहने के बावजूद उनके पास सालभर खाने लायक अनाज तक नहीं बचता, जिसे वह स्वयं पैदा करता है। इससे ज़्यादा विडंबना और भारी अन्याय और क्या हो सकता है? किसान क़र्ज़ में पैदा होते हैं और क़र्ज़ में ही मर जाते हैं। इसी अन्याय और कष्ट की करुणा और दृश्य-अदृश्य हिंसा से भरी जीवन-गाथा प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में लिखी है। विडंबना यह है कि हिंसा होती रहती है और नज़र भी नहीं आती। विपन्नता, विषमता और अन्याय से पैदा की गई त्रासदियों ने किसान के जीवन को सबसे ज़्यादा तबाह किया है जबकि वे शहरी सुविधाभोगी वर्ग की तुलना में ज़्यादा आज्ञाकारी, भीरु, नैतिक, सहयोगी, मिलनसार, ईमानदार, सहिष्णु, सहनशील, कर्मठ, सहज प्रेमी और वफ़ादार रहे हैं। उनकी प्रेम-भावना में भी कोई छल, बनावट और बेवफ़ाई का भाव नहीं होता। इसके विपरीत शहरी वर्ग अपनी सरकारी नौकरी, तिजारत, सट्टेबाज़ी, सूदख़ोरी और ज़मींदारी से प्राप्त आमदनी से विलासिता के सारे शौक पूरे करते हैं। वे शहर से गाँवों में जाकर शिकार पार्टियाँ करते हैं और मनोरंजनकारी तफ़रीबाज़ी करते हुए बड़ी-बड़ी बातों पर बहस-मुबाहसे भी करते हैं।

प्रेमचंद ने अपने अनुभव से यह भी जान लिया था कि किस तरह से आज़ादी को नज़दीक देखकर उस समय के अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के सहयोगी ज़मींदार, ताल्लुकदार, मिल-मालिक, पूँजीपति, पत्रकार, वकील यानी उच्च और उच्चमध्य वर्ग का पूरा कुनबा भी एक या दो बार जेल जाकर खुद को स्वाधीनता सेनानियों की कतार में खड़ा कर रहा था जिससे मौक़ा पड़ने पर अपना चोला बदल सकें। आज़ादी मिलने के बाद प्रेमचंद की बात सच साबित हुई। इसीलिए उनको भविष्यद्रष्टा लेखक की प्रतिष्ठा प्राप्त है। 'ग़बन' और 'गोदान' में वे भविष्यद्रष्टा लेखक के रूप में दिखाई देते हैं। उनकी यह बात सच साबित हुई कि इस आज़ादी का लाभ वास्तविक मेहनतकश किसान और मज़दूर को मिलने वाला नहीं है। हम देख भी रहे हैं कि आज देश में सबसे गंभीर संकट खेती और किसान पर है। वह जिस तरह से आत्महत्या करता है उसकी पृष्ठभूमि प्रेमचंद अपने उपन्यासों में पहले ही बतला देते हैं कि इस सबकी परिणति मृत्यु में ही होनी है।

प्रेमचंद यह भी जान रहे थे कि चुनाव क्या होते हैं और किस तरह से लड़े जाते हैं? एक जगह पर 'गोदान' में इस रहस्य को डाक्टर मालती बड़ी बेबाकी से खोलती है। वह वकील-दलाल तंखा से कहती है कि उसे चुनाव नहीं लड़ना है क्योंकि चुनाव धन से जीते जाते हैं। दूसरी बात वह यह स्वीकार करती है कि उसने ऐसा कोई जनहित या जनसेवा का काम नहीं किया है जो वह चुनाव लड़े और उसमें उसकी जीत हो। वह स्वीकार करती है कि-"मैंने केवल एक बार जेल जाने के सिवा और क्या जनसेवा की है? और सच पूछिए तो उस बार भी मैं अपने मतलब ही से गई थी, उसी तरह जैसे राय साहब और खन्ना गए थे।" इस तरह का खेल उस समय चल रहा था जिसे प्रेमचंद अपनी आँखों के सामने घटित होता हुआ देख रहे थे। उससे साफ़ लग रहा था कि आज़ादी मिल जाने के बाद भविष्य की सत्ता पर इस वर्ग का कब्ज़ा हो जाने से किसान के कंधे से शोषण-उत्पीड़न का जुआ उतरने वाला नहीं है। यही कारण रहा कि प्रेमचंद ने अपने आख़िरी उपन्यास 'गोदान' में अपने ही पिछले आदर्शवाद से पीछा छुड़ाकर अपना रास्ता बदल लिया था। यद्यपि आदर्श का मुलम्मा अभी भी पूरी तरह से उतरा नहीं था। इस सबके बावजूद वे सच्चाई के नज़दीक पहुँच रहे थे। वे 'गोदान' से पहले 1931 में प्रकाशित अपने 'गबन' उपन्यास में देवीदीन नामक चरित्र के मुँह से उस समय के सुराजी लोगों के बारे में साफ़-साफ़ कहलवाते हैं कि "एक बार यहाँ एक बड़ा भारी जलसा हुआ। एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब कूदे। जब वे नीचे आए तो मैंने उनसे पूछा-साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, उसका कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है। तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेज़ों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेज़ी ठाठ बनाए घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा। तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बंदों की ज़िंदगी भले आराम और ठाठ से गुज़रे पर देश का तो कोई भला न होगा बस बगलें झाँकने लगे।" देवीदीन आगे और कहता है- "अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जाएगा, तब तो तुम ग़रीबों को पीसकर पी जाओगे।" यह है 'गोदान' उपन्यास के लेखन की वैचारिक पृष्ठभूमि, जहाँ प्रेमचंद स्वाधीनता आंदोलन और सुराज की अंदरूनी हक़ीक़त को जानकर इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि देश को आज़ादी मिल जाने के बाद भी सत्ता उस देशी पूँजीपति और मध्यवर्ग के हाथ में रहेगी, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से इसलिए लड़ रहा है कि वह विदेशी पूँजीपति को भगाकर स्वयं सत्ता का संचालक बन जाए और उसे लगभग वैसे ही चलाए जैसे साम्राज्यवादी अंग्रेज़ चला रहे हैं।

उस समय डेमोक्रेसी आने की भी बात चल रही थी कि जब देश आज़ाद हो जाएगा तो एक नए संविधान के अंतर्गत यहाँ डेमोक्रेसी स्थापित की जाएगी। इस बारे में भी प्रेमचंद यह देख और समझ रहे थे कि उस डेमोक्रेसी का चरित्र क्या होगा, जिसका सारा दारोमदार पूँजीपतियों के हाथ में होगा? प्रेमचंद, दरअसल एक ऐसी डेमोक्रेसी का सपना देखते थे जिसमें वास्तविक सत्ता मेहनतकश किसान-मज़दूर वर्ग के हाथ में हो क्योंकि समाज के विभिन्न तबकों में सबसे नीचे पिसता हुआ पीड़ित वर्ग यही है और वास्तविक जन भी यही है जिससे जनतंत्र बनता है लेकिन लक्षण बता रहे थे कि ऐसा होगा नहीं। इन हालातों को ध्यान में रखते हुए वे बहुत-सी बातें अपने पात्रों से अवसर आने पर अक्सर कहलाने से नहीं चूकते। 'गोदान' में प्रेमचंद, मिर्ज़ा खुर्शेद से एक जगह पर डेमोक्रेसी के बारे में कहलवाते हैं, "मुझे अब इस डेमोक्रेसी में भक्ति नहीं रही। ज़रा-सा काम और महीनों की बहस। हाँ, जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए अच्छा स्वांग है। जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और ज़मीदारों का राज्य है, और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाज़ी ले जाता है जिसके पास रुपये हैं। रुपये के ज़ोर से उसके लिए सभी सुविधाएँ तैयार हो जाती हैं। बड़े-बड़े पंडित, बड़े-बड़े मौलवी, बड़े-बड़े लिखने और बोलने वाले जो अपनी ज़बान और कलम से पब्लिक को जिस तरफ़ चाहें फेर दें, सभी सोने के देवता के पैरों पर माथा रगड़ते हैं।"

कहने का तात्पर्य यह है कि अब प्रेमचंद आदर्श से ज़्यादा हक़ीक़त दिखाने को अपने साहित्य का उद्देश्य मानकर लिख रहे थे। इसीलिए 'गोदान' उनकी अपनी ही पुरानी रचना-प्रक्रिया की

लीक से हटा हुआ ज़्यादा सहज और स्वाभाविक एवं कलात्मक लेखन का नया उदाहरण बन गया है जिसमें जो है वही दिखाने का प्रयास किया गया है यानी यथास्थितिवाद तक को प्रेमचंद दिखाना नहीं भूलते। उनका मुख्य चरित्र होरी एक भारतीय किसान की तरह घनघोर नियतिवादी, धर्मभीरु, जातिविश्वासी और मरजाद के नाम पर यथास्थितिवाद का पोषक है। अपनी बेड़ियों से मुक्त होने की कोई स्थिति उसके यहाँ नहीं है। उसने मरजाद की ऐसी घुट्टी पी रखी है कि उसके भीतर का आत्मगौरव भी जैसे सो गया है। एक तरफ़ वह जाति की मर्यादा से बँधा है तो दूसरे तरफ़ धर्म में अंधास्था से। वह पंडित दातादीन से सिर्फ़ इसलिए डरता है कि वह ब्राह्मण है। पंडित दातादीन, पंडित ही नहीं सूदख़ोर महाजन भी है। वह तीस रुपये क़र्ज़ के रूप में होरी को देता है जिनका ब्याज लगाकर नौ साल में दो सौ रुपये बना लेता है। शहर में जाकर हिसाब सीखा हुआ गोबर जब उसे सही हिसाब लगाकर बतलाता है कि इतने दिनों में तीस के सत्तर बनते हैं, सत्तर रुपये लेने हैं तो ले लो तब दातादीन अपने वही पुराने हथियार ब्राह्मण होने को बतलाते हुए होरी से कहता है, "मैं ब्राह्मण हूँ, मेरे रुपये हज़म करके तुम चैन न पाओगे-अगर मैं ब्राह्मण हूँ तो अपने पूरे दो सौ रुपये लेकर दिखा दूँगा और तुम मेरे द्वार पर आओगे और हाथ बाँधकर दोगे।" होरी का वर्ण व्यवस्था में पूरा विश्वास है। वह दातादीन की इस धमकी से डर जाता है और गोबर से कहता है-"अगर ठाकुर या बनिए के रुपये होते, तो उसे ज़्यादा चिंता न होती, लेकिन ब्राह्मण के रुपये! उसकी एक पाई भी दब गई, तो हड्डी तोड़कर निकलेगी। भगवान् न करे कि ब्राह्मण का कोप किसी पर गिरे।" कहने का मतलब यह है कि अब प्रेमचंद किसान को किसान की तरह ही दिखला रहे थे। उसे पहले उपन्यासों की तरह से कोई बड़े क्रांतिकारी और संघर्षशील चरित्र के रूप में बनाकर पेश नहीं कर रहे थे। इतना ही नहीं अब दूसरे चरित्र भी अपनी स्वाभाविकता में आए हैं और उनकी चारित्रिक स्थिति ऐतिहासिक ही नहीं, द्वंद्वात्मक भी है। कोई चरित्र न पूरी तरह से बुरा है और न ही पूरी तरह से अच्छा। सबकी अपनी अच्छाइयाँ हैं और सबकी अपनी कमज़ोरियाँ। एकाध श्याम बिहारी तंखा जैसे दलाल पात्र को छोड़कर सभी के चरित्र द्वंद्वात्मक हैं। वे गढ़े और बनाए हुए न होकर जैसे जीवन में हैं, लगभग वैसे ही हैं। गाँव के सभी लोग सूदख़ोर बनना चाहते हैं क्योंकि वातावरण और व्यवस्था ऐसी ही है। दुलारी सहुआइन जैसी महिला भी सूद पर रुपये देती है। इसका कारण है सामंती समाजों में सूदख़ोरों की प्रतिष्ठा इन्हीं सूदख़ोरों के जाल में किसान मृत्युपर्यंत फँसा रहता है और ये उस व्यवस्था के जाल में फँसे रहते हैं जो इनको भी संचालित करती है, जिसे सरकार कहते हैं। गोबर भी लखनऊ जाकर सरप्लस होते ही ब्याज पर रुपये देने लगता है। इस तरह से किसान के चारों तरफ़ सरप्लस पूँजी का एक जाल बिछा रहता है। यही जाल है जो व्यक्ति से उसकी मानवता को छीन लेता है। इसी से व्यक्ति का अमानवीकरण होता चला जाता है और एक ऐसा समाज बन जाता है जिसमें मानवीय मूल्यों के लिए ज़्यादा स्पेस नहीं रह जाता। थोड़ी-बहुत मानवता बचती है तो वह होरी जैसे किसानों में या गोबर जैसे मज़दूरों में जो अपनी मेहनत पर ज़्यादा भरोसा करते हैं। या उनकी मजबूरी है कि वे मेहनत पर ही निर्भर रहते हैं।

सच तो यह है कि 'गोदान' जैसे उपन्यास को पुराने मापदंडों से न तो समझा जा सकता है और न ही प्रेमचंद की बदली हुई नई भूमिका को। कहना न होगा कि प्रेमचंद अब न तो राष्ट्रीय आंदोलन में किसान की कोई बड़ी भूमिका को दिखला रहे थे और न ही उस आंदोलन के नेताओं के बारे में कुछ बढ़-चढ़कर कह पा रहे थे। इसकी वजह थी उस समय के आंदोलन में किसान नेतृत्व का अभाव। कांग्रेस का तत्कालीन नेतृत्व उच्च और मध्य वर्ग के हाथों में आ चुका था जिसकी चिंताओं में किसान वर्ग सबसे निचले पायदान पर था। इसलिए जिन प्रेमचंद ने कभी 'रंगभूमि' उपन्यास में महात्मा गाँधी की एक संघर्ष-छवि दिखलाई थी, उन्हीं प्रेमचंद ने 'गोदान' में आकर एक असहाय, लाचार, दब्बू, समझौतापरस्त, खुशामदी और सामंतवाद तथा पूँजीवाद की क्रूर चक्की में पिसते हुए किसान की दर्दनाक तस्वीर को पेश किया था। पी.एन. सिंह तो अब भी होरी में गाँधीजी की आत्मपीड़क छवि को देखते हैं जबकि यह यथार्थ नहीं है। होरी की आत्मपीड़ा उस व्यवस्था की देन है जिसमें वह रहता है या जिससे वह बुरी तरह से घिरा हुआ है। वह ऊपर से आत्महत्या नज़र नहीं आती लेकिन वह किसान को तिल-तिल करके मारती है। वह जीते जी अपनी लाश को ढोता है। वह उससे बचना चाहता है लेकिन ज़िंदगी ने कोई रास्ता छोड़ा ही नहीं है सिवाय मृत्यु के या आत्महत्या के। आत्महत्या तो वह नहीं करता लेकिन वह हर रोज़ मरता है। गाँधीजी की आत्मपीड़ा एक अस्त्र की तरह है वे उसे अपने सत्याग्रह का अस्त्र बनाते हैं। वे अपनी आत्मपीड़ा के प्रति सचेत हैं जबकि होरी पर वह व्यवस्था ने लादी है। वह तो सुख और आनंद के साथ जीना चाहता है लेकिन कोई उसे जीने नहीं देता। देखा जाए तो यह उस समय चलते हुए स्वाधीनता आंदोलन के बीच एक नई तरह की बात थी, जिसे प्रेमचंद ही अपने अनुभव से समझ रहे थे। सच तो यह है कि यहाँ तक आते-आते उनका तत्कालीन स्वाधीनता आंदोलन की भूमिका से मोहभंग हो गया था। वे उसकी भीतरी सच्चाई को जान गए थे कि जिस तरह का आंदोलन चल रहा है और जिसे जो शक्तियाँ चला रही हैं उनसे किसान की कष्टगाथा में कोई बुनियादी तबदीली होने वाली नहीं है। आज़ादी मिल जाने के बाद यही सच भी साबित हुआ। आज़ादी मिलने के बाद से पिछले 70-72 बरसों में जिस तेज़ी से उच्च और मध्य वर्गों में संपन्नता का इज़ाफ़ा हुआ है उतनी ही तीव्रता से निम्न किसान-मज़दूर वर्ग में विपन्नता आई है। वह इस बात का सबूत है कि प्रेमचंद उस समय कितने सही थे। इसीलिए उन्होंने किसान जीवन की शोषण-उत्पीड़न से प्रभावित वास्तविक कष्टगाथा लिखने का निर्णय लिया था। यही निर्णय उनको फ़्रेंच कथाकार बाल्ज़ाक, रूसी कथाकार टालस्टाय और गोर्की व भारतीय ओड़िया कथाकार फ़क़ीर मोहन सेनापति की पाँत में लाकर बिठा देता है।

'गोदान' भले ही राष्ट्रीय आंदोलन की गाथा न हो किंतु वह भारतीय किसान जीवन की ऐसी राष्ट्रीय करुणगाथा अवश्य है जिसमें बनते हुए राष्ट्र की टूटी-बिखरी हुई छवि और उसके भीतर लुटते-पिटते हुए किसान को देखा जा सकता है। वह किसान जीवन की मर्मांतक दर्दगाथा है जिसमें आदर्श की बजाय यथार्थ को बहुत पास से देखा जा सकता है। 'गोदान' को जब हम पढ़ते हैं तो बाल्ज़ाक के किसान उपन्यास के पाठक गोंकूर बँधुओं की डायरी की निम्नांकित पंक्तियाँ सहसा याद हो आती हैं। उन्होंने उस समय जो बाल्ज़ाक के उपन्यास के बारे में लिखा वही हम प्रेमचंद के बारे में भी कह सकते हैं। गोंकूर बंधुओं ने लिखा है, "बाल्ज़ाक को अभी तक किसी ने राजनेता नहीं कहा है, फिर

भी शायद वे हमारे समय के महानतम राजनेता थे। ऐसे एकमात्र व्यक्ति थे जो हमारी बीमारी की जड़ को समझ सके। अकेले वही थे जिसने एक ऊँचाई से, 1789 के उपरांत फ्रांस के विशृंखलन को, क़ानून के पीछे के तौर-तरीकों को, शब्दों के पीछे के तथ्यों को, प्रत्यक्ष व्यवस्था की सतह के नीचे व्याप्त निरंकुश स्वार्थों की अव्यवस्था को, दुरुपयोगों का स्थान लेने वाले प्रभावों को, न्यायाधीश के सामने असमानता के द्वारा क़ानून के सामने समानता के विनाश को देखा।" ('किसान : बाल्ज़ाक', अनुवाद-सत्यम, राजकमल प्रकाशन, 2002, संपादकीय आलेख, पृष्ठ 26)

प्रेमचंद के उपन्यासों में उनका 'गोदान' ही एक ऐसा उपन्यास है जिसकी कथा के केंद्र और उसकी मूल सर्जना पर आलोचकों, विचारकों और पाठकों की एक राय नहीं रही है। जितने मुँह उतनी बातें हैं। इसमें जिसको जो मिलता है वही निकालकर कह देता है कि देखो इसमें एक नया मोती मुझे मिला है। अभी-अभी 'पहल' पत्रिका के 117वें अंक में विनोद साही ने इसमें जातीय और सभ्यतामूलक ज़मीन को देखकर इसे ज़मीन की मरजाद वाली भारतीयता को दिखलाने वाला उपन्यास बतलाया है। इससे पहले निर्मल वर्मा कुछ इसी तरह से 'गोदान' को व्यक्ति की मृत्यु के समय गऊदान करने की एक हिन्दू प्रथा को बतलाते हुए इसमें औपनिवेशिक युग की कमज़ोरियों वाले किसान को दिखला चुके थे। बहुत पहले रामविलास शर्मा ने इसमें किसान की ऋणग्रस्तता के संकट को मूल माना था, बाद में संयुक्त परिवार के विघटन को। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने इसके शीर्षक को ही देखा था और उसे ही लक्षित करते हुए यह मान लिया था कि चूँकि "इसका नाम 'गोदान' है जिससे यह सूचना नहीं मिलती कि यह संपूर्ण जीवन को चित्रित करने का लक्ष्य रखता है। जो लक्ष्य उस कृति का नहीं है, उसे उस पर आरोपित करना व्यर्थ है।" इसी तरह से उनको इसमें ग्रामीण और शहरी जीवन की कथाओं में भी कोई तालमेल नज़र नहीं आया था। पी.एन. सिंह इसे पालीटिकल क्रिटीक के साथ मॉरल क्रिटीक मानते हैं।

इस सबके बावजूद यह सवाल बराबर बना रहा है कि उनके दूसरे उपन्यासों की तरह इसमें वे देश की किस समस्या या संकट को उठाना चाहते हैं? आख़िर इसे लिखने का उनका मक़सद क्या है? दरअसल यह एक व्यक्ति और उसके परिवार को केंद्र में रखकर किसान की संपूर्ण जीवनधारा और यथार्थ को व्यक्त करने वाला एक ऐसा उपन्यास है जो जीवन प्रवाह के साथ आजीवन चलता है। इसका देशकाल अपनी गतिशीलता में जीवन की हर ध्वनि को अपने भीतर समाहित करने का प्रयत्न करता है। उसमें किसान के रुदन और मर्मांतक पीड़ा का अंश ज़्यादा होने के बावजूद उसकी खुशियाँ और प्रसन्नताओं के कई पन्ने भी मौजूद हैं जिनके बिना ज़िंदगी मुकम्मल नहीं होती। इसमें प्रकृति की मनोरमता और ऋतुओं के चक्र के साथ मानवीय भावनाओं का वह आवेग और उत्साह भी है जो जीवन के हर स्तर पर मिलता है। यह किसी एक बिंदु पर ठहरकर एक स्थिति या किसी एक संकट या समस्या के लिए लिखा गया उपन्यास नहीं है। सच तो यह है कि यह समस्या को नहीं वरन् समस्या की जड़ को पकड़ने वाला उपन्यास है। और वह समस्या है उच्च और उच्चमध्य वर्ग के पास पूँजी के अकूत संचय का विधान और उनकी तुलना में मेहनत पर जीने वाले वर्ग की महाविपन्नता जिससे वह दूसरों के जीने तक के अधिकार को छीन लेता है। राय अमरपाल सिंह जैसे ज़मीदार-ताल्लुकदार हों, चाहे मिल-मालिक खन्ना हों या श्याम बिहारी तंखा जैसे दलाल-वकील हों या गाँवों में रहने वाले सूदख़ोर हों या सरकारी कर्मचारी हों या ओंकारनाथ जैसे पत्रकार हों, ये सभी अतिरिक्त पूँजी बनाने वाले या उसकी सतत लालसा में जीने वाले लोग हैं जो सटोरिया पूँजी के पोषक और उसे बढ़ावा देने वाले हैं। ये ही पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार हैं और ये व्यवस्था ही सारे संकटों की जड़ है जिसमें होरी जैसे किसान और गोबर जैसे मज़दूर पिसकर अपना दम असमय ही तोड़ देते हैं। यदि इसमें व्यक्त किसी समस्या या संकट को ही लक्ष्य करना है तो यह देश में व्याप्त अन्यायजन्य विषमता और दारिद्र्य का एक ऐसा संपूर्ण लेखा-जोखा है जहाँ मेहनत करने वाले भूखों मरते हैं और उनकी मेहनत को लूट-लूटकर खाने वाले गुलछर्रे उड़ाते हैं। इसके लिए प्रेमचंद को सबसे निचले जीवन स्तर पर गाँव के किसान मिलते हैं जो सबसे ज़्यादा दुखी और शोषण-उत्पीड़न का संकट भोगते हैं। उनके पास अपनी जीवन-लीला को चलाने वाला अन्न तक नहीं मिलता। अन्न व्यक्ति की बुनियादी आवश्यकताओं में से एक है। इस तरह से यह उपन्यास जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं और सरोकारों को रखते हुए उस पूरे शोषण तंत्र का उद्घाटन करता है जो नैतिक समाज की मूल्यपरकता का विध्वंस कर निरंतर एक भ्रष्टतंत्र को फैलाता, पनपाता और बढ़ाता जाता है। यह सामाजिक यथार्थ का आईना है जो तरह-तरह के मनुष्यों के बीच पल रहे संबंधों और उनकी स्थितियों के यथार्थ को चित्रित करता है। इसमें प्रेमचंद के लेखन की प्रौढ़ता की वे सभी स्थितियाँ मौजूद हैं जिनको वे संग्रह-त्याग के आधार पर छोड़ रहे थे और ग्रहण भी कर रहे थे। इसमें गाँव का वह तबक़ा भी शामिल है जो शहरी वर्गों की तरह से किसान का खून पीता है। वह उसके आस-पास का सूदख़ोर और रूढ़िवादी-अँधविश्वासी धार्मिक वर्ग है जो किसान को किसी भी स्थिति में मुक्त नहीं होने देता। नोखेराम, पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह, पंडित दातादीन इसी शोषक वर्ग के ग्रामीण प्रतिनिधि हैं। गाँव में ही शोषक और शोषित दोनों वर्ग मौजूद हैं। इसलिए प्रेमचंद के लिए गाँव अब कोई सहज और मनोरम जीवन वाला गाँव नहीं है। सच तो यह है कि किसान के सुखवाला वह गाँव ही नहीं है।

सच यह भी है कि प्रेमचंद अपने समय के उस बुनियादी मनुष्य की तलाश में थे जो अपनी समस्त कमज़ोरियों के साथ अपने समय का प्रतिनिधि भी हो। ऐसा एक चरित्र उनको होरी के रूप में मिला था जो उनके अभी तक के पहले सभी चरित्रों से बहुत अलग था, जिसको उन्होंने उसकी यानी व्यक्ति की सारी कमज़ोरियों के साथ दिखाया। वे चाहते तो उसे भी एक आदर्श और लगातार लड़ने वाला चरित्र बना सकते थे लेकिन तब एक नया सूरदास और बन जाता। इस समय तक शायद वे यह जान चुके थे कि अपनी परिस्थितियों के कारण देश का किसान समझौतापरस्ती की ज़िंदगी ज़्यादा जीता है। सही संगठन और एकजुटता के अभाव में वह अपने लिए भी सही निर्णय नहीं कर पाता। वह भी उन मर्जादों से बँधा रहता है जो उसके जीवन के लिए बेड़ियों की तरह हैं। यह समझने की बात है कि प्रेमचंद की जीवनयात्रा में वे जिन आदर्शों को मानकर चले थे, धीरे-धीरे वे सभी आदर्श, यथार्थ में उनकी आँखों के सामने ढह रहे थे। कहीं कुछ ऐसा बचा नहीं था जिससे वे अपने युग का कोई बड़ा आदर्श गढ़ सकें। तब यथार्थ ही सबसे बड़ा आदर्श होता है जब

कोई स्पष्ट आदर्श नहीं रह जाता। अभिव्यक्ति के ख़तरे भी यथार्थ को व्यक्त करने में ही होते हैं, आदर्श की अभिव्यक्ति में नहीं। इसलिए प्रेमचंद अपनी यथार्थ-यात्रा पर निकल पड़े थे। वैसे भी आदर्श गढ़े ज़्यादा जाते हैं, होते बहुत कम हैं। इसीलिए दुनिया में आदर्शों का मिथकीकरण किया जाता है जिससे वे अपने क़द से ज़्यादा बड़े लगने लगते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि कोई ऐसी आदर्श-स्थापना अब प्रेमचंद का उद्देश्य नहीं रह गया था जो समाज की परिस्थितियों के अनुसार उसके काम का नहीं हो। मानवीय आदर्श तो उस समय भी कई थे लेकिन सामाजिक आदर्श समाज के यथार्थ के भीतर से ही निकल सकते थे। वे जान गए थे कि हर व्यक्ति गाँधी और भगत सिंह नहीं हो सकता। उसके आदर्श उसके आसपास के लोग ही हो सकते हैं। व्यक्ति जितना अपने आसपास से प्रभावित होता है उतना दूर से नहीं। इसलिए पहले उस यथार्थ को जानने की ज़रूरत है जिसे व्यक्ति रोज़ाना देखता और भोगता है। इसके लिए उसे किसी बहुत बड़े नायक या महानायक की ज़रूरत नहीं होती। वैसे भी सच को हम साधारणता में व्यक्त कर सकते हैं, असाधारणता में नहीं। उसकी ज़रूरत उसके आसपास के लोग होते हैं। वे कैसे हैं और कैसा जीवन जीते हैं, पहले इस सत्य को समझने की ज़रूरत है। प्रेमचंद जान गए थे कि बड़ी-बड़ी बातें करने से समाज नहीं बदलता, यदि ऐसा होता तो न जाने अब तक कितनी बार बदल गया होता। इसलिए ज़रूरी है कि व्यक्ति उस सच्चाई को पहले जाने जो उसके आसपास हर रोज़ घटित होती है। भारत तब तक उतना शहरी देश नहीं बना था जितना आज है। वह गाँवों का देश रहा है जिसका मुख्य धंधा खेती-किसानी करना रहा है। यही वजह है कि प्रेमचंद, मध्यवर्गीय जीवन को छोड़कर किसान-मज़दूर के निम्नवर्गीय जीवन के यथार्थ को जानने के लिए इधर आ गए थे। वैसे भी विश्व-परंपरा में तब तक फ्रांस क्रांति के बाद ओनोरे द बाल्ज़ाक सरीखे महान लेखक द्वारा अपने साहित्य में 'दि पीजेंट्री' (अंग्रेज़ी में 'संस ऑफ़ द सॉइल') यानी 'किसान' को केंद्र में लाकर जिस तरह का आधुनिक साहित्य रचा गया था, वह भी एक उदाहरण रहा होगा। बाल्ज़ाक का यह उपन्यास 1844 ई. में प्रकाशित हुआ था जिसका सीधा मतलब था कि जब तक किसान-मज़दूर जैसा मेहनतकश आज़ाद नहीं होता तब तक आज़ादी का कोई बड़ा मतलब नहीं है यानी किसान-मज़दूर की आज़ादी के बिना कोई आज़ादी विखंडित एवं अधूरी है। आधुनिक भारतीय साहित्य परंपरा में भी तब तक ओड़िया साहित्यकार फ़क़ीर मोहन सेनापति किसान जीवन की त्रासदियों पर 'छ माण आठ गुंठ' जैसा यथार्थपरक उपन्यास लिख चुके थे, जिसका प्रकाशन 1902 ई. में हुआ था। प्रेमचंद तब तक हिन्दी में अकेले थे जो मानो आज़ादी के आंदोलन के नेताओं को यह सुझा रहे थे कि सच्ची आज़ादी तो तभी होगी जब देश के किसान और मज़दूर सही मायने में आज़ाद होंगे। जब सूरदास, बलराज, मनोहर और होरी-धनिया जैसे लोग आज़ाद होंगे क्योंकि वे बीमारी की असली जड़ को समझ चुके थे।

इस तरह से उन्होंने पहली बार सामान्य लोगों को उनके ही अतिसामान्य जीवन की कहानियाँ सुनाईं जिनको सुनकर वे उनके भीतर के यथार्थ को जान सकें। सच तो यह है कि यथार्थ को दिखलाना ही इस समय उनका सबसे बड़ा आदर्श रह गया था। यदि यथार्थ की प्रक्रिया के चलते कोई आदर्श-छवि उनके यहाँ आती है तो वह यथार्थ का ही एक हिस्सा समझी जानी चाहिए। ऐसा आदर्श उनके उन चरित्रों में ज़्यादा है जो अभावों की ज़िंदगी में रहते हुए भी अपनी औसत नैतिकता को नहीं छोड़ते। इस नैतिकता के दर्शन उनको देश के तत्कालीन ग्रामीण और किसान जीवन में हुए, जिन पर वे पहले से लिखते आ रहे थे। उन्होंने देखा और महसूस किया था कि ये किसान मेहनत करते हैं और सहकारिता के नैतिक सिद्धांत को भी मानते हैं, इसके बावजूद ये जिस तरह की त्रासदियों से घिरे हुए हैं, वैसी किसी अन्य वर्ग के जीवन में नहीं हैं। ये त्रासदियाँ प्राकृतिक नहीं, मानव द्वारा निर्मित हैं और उस व्यवस्था द्वारा निर्मित हैं जो व्यवस्था के नाम पर इनका शोषण और उत्पीड़न करती हैं। इस शोषण-उत्पीड़न की मुकम्मल तस्वीर दिखाना ही 'गोदान' उपन्यास में लेखक का उद्देश्य रहा है। इनके बहुत बड़े जीवनोद्देश्य भले ही नहीं हों लेकिन उस समाज में यदि कहीं रोशनी नज़र आती थी तो थोड़ी-बहुत इसी जीवन में क्योंकि ये मेहनत और उससे व्यक्त नैतिकता का और पारस्परिक सहयोग भावना का जीवन जीते थे।

इस तत्कालीन गाँव और किसान जीवन के यथार्थ को तत्कालीन शहरी जीवन किस सीमा तक और किस रूप में प्रभावित कर रहा था, यह दिखाने के लिए इसमें शहरी जीवन की कथा का होना स्वाभाविक और ज़रूरी था तभी यह तत्कालीन जीवन का संपूर्ण यथार्थ और उसकी संपूर्ण कथा बन सकता था क्योंकि किसान का शोषण-उत्पीड़न करने वाले अधिकांश लोग शहरों में सुविधा और विलास का जीवन जीते थे। यह शहरी समाज और उसके द्वारा बनाई व्यवस्था ही तो होती है जो आय और उत्पादन के सारे स्रोतों पर कब्ज़ा करके मनमाने फ़ैसले लेती है जिसमें अपने लिए सभी सुविधाएँ होती हैं, ऐशो-आराम की सारी सामग्री भी। कैसी विडंबना है कि आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जैसे सुधी समीक्षक भी अपने आदर्शवाद की झोंक में यह नहीं समझ पाए कि शहरी जीवन की कथा से ग्रामीण कथा का कैसा रिश्ता है? वे इन दोनों कथाओं को अलग-अलग मानकर इसे प्रेमचंद की उपन्यास कला की कमज़ोरी बतलाते रहे। इस रहस्य को वही समीक्षक जान सकता है जो यथार्थ से अपने रिश्ते को सुदृढ़ करता हुआ चले और जिसकी आँखों पर किसी तरह का पारंपरिक आदर्शवादी चश्मा न हो। दरअसल शहरी जीवन की कथा को ग्रामीण जीवन से जोड़ने वाला सूत्र है राय साहब की ज़मीदारी, जिनके पास सेमरी इलाके की ज़मीदारी है। उनका संबंध दोनों जगहों से है। वे गाँव से लगान वसूल करते हैं, बेगार लेते हैं, नज़राना लेते हैं और इसके बल पर अपना शान-शौकत का जीवन तो जीते ही हैं अपने शहरी मित्रों को भी अपने यहाँ भोज-दावतों पर आमंत्रित कर अपना उल्लू साधते हैं। इस तरह से गाँव और शहर का एक रिश्ता शोषण-उत्पीड़न का बनता है जिसमें ज़मीदार ही नहीं वरन् वह मध्यवर्गीय समाज भी है जो शोषितों के पक्ष में सिर्फ़ डींगें हाँकता हुआ अपना मनोरंजन करता है, करता कुछ भी नहीं। ❑

● लेख



धूमिल का काव्य-विवेक और नामवर सिंह

रामनिहाल गुंजन

'मेरी कविता इस तरह अकेले को सामूहिकता देती है
और समूह को साहसिकता
शब्द अपने वर्ग-मित्रों में कारगर
होते हैं और शास्त्र अपने वर्ग-शत्रु पर।'

उपर्युक्त काव्य-पंक्तियाँ धूमिल (1936-1975) के मरणोपरांत प्रकाशित 'कविता के द्वारा हस्तक्षेप' शीर्षक कविता की है, जो धूमिल की अप्रकाशित सात कविताओं में से एक है। इनकी रचना नवंबर-दिसंबर 1971 के आस-पास की गई थी। अन्य कविताएँ हैं- 'सिलसिला', 'प्रजातंत्र के विरुद्ध', 'अपनी हड्डियों से दुनिया थहाने का वक़्त नहीं है', 'भेंट', 'खेवली तथा 'शब्द जहाँ सक्रिय हैं।' इन कविताओं की रचना पटना के सिर्क-सम्मेलन (1970) और बाँदा-सम्मेलन (1973) के बाद हुई थी और बाद में यानि 1977 में धूमिल की ये कविताएँ उनके दूसरे काव्य-संग्रह 'कल सुनना मुझे' (1977) में संकलित-प्रकाशित हुईं। बाद में इसी संग्रह पर धूमिल को साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी मरणोपरांत प्राप्त हुआ। नामवर सिंह ने उस अवसर पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए एक बातचीत के सिलसिले में कहा था- "धूमिल को अकादेमी पुरस्कार मिलने पर मुझे परितोष हुआ। यदि उनके जीते जी यह पुरस्कार उन्हें मिलता तो मुझे खुशी होती। मेरी दृष्टि में यह केवल कवि धूमिल का महत्व-स्वीकार है और वह भी देर से।"



उन्हीं दिनों नामवर सिंह ने धूमिल की एक कविता 'बीस साल बाद' 'आलोचना' के एक अंक में प्रकाशित की थी, जिसकी चर्चा धूमिल ने 'आरंभ' पत्रिका के संपादक विनोद भारद्वाज को अपने 20 जुलाई, 1967 को लिखे पत्र में की थी। उसी पत्र में उन्होंने इस बात की सूचना भी दी थी कि वे उन दिनों कविताएँ ही कविताएँ लिख रहे थे और यह सूचना देना उन्होंने इसलिए ज़रूरी समझा था क्योंकि उनकी ज़्यादातर कविताएँ तब 'आरंभ' में ही प्रकाशित हो रही थीं। दूसरे, विनोद भारद्वाज ने अपने लेख 'धूमिल के पत्र' में, जो 'आलोचना' के अप्रैल-जून 1975 अंक (धूमिल अंक) में प्रकाशित हुआ था, लिखा था, "ये पत्र तब लिखे गए जब धूमिल अपनी बहुचर्चित कविताएँ लिख रहे थे और ये पत्र हमें धूमिल के बारे में बहुत कुछ महत्वपूर्ण बताते हैं।"

यह वही समय था जब धूमिल आत्मसंघर्ष के साथ-साथ जीवन-संघर्ष से भी गुज़र रहे थे। वे नौकरी के सिलसिले में जगह-जगह होने वाले तबादले से दुखी और बेचैन थे। वस्तुत: वे बनारस अपने घर के पास आना चाहते थे। विनोद भारद्वाज ने लिखा है, "आख़िर कई तरफ़ की कोशिशों के बाद धूमिल का तबादला बनारस हो ही गया। नवंबर 1974 में लखनऊ मेडिकल कॉलेज में जब धूमिल से कई सालों के बाद मुलाक़ात हुई तो धूमिल ने बताया कि उनका तबादला फिर सीतापुर हो गया है और सीतापुर जाने के फ़ौरन बाद ही वे भयंकर सरदर्द का शिकार हो गए।" धूमिल अपने 10 मई, 1968 के पत्र में अपनी परेशानी का ज़िक्र करते हुए विनोद भारद्वाज को पहले ही लिख चुके थे,"काशी के पते पर तुम्हारा भेजा हुआ पत्र मिला। बहुत परेशान हूँ। कुल मिलाकर सुदामा पांडेय होकर रह गया हूँ। घर के लोग मुझे आदमी बनाने पर तुल गए हैं। मेरे परखचे उड़ गए हैं, जोड़-जोड़ खुल गए हैं।" उन्हीं दिनों धूमिल की 'आमुख' (सं. कंचन कुमार) में राजकमल चौधरी पर लिखी कविता और 'आलोचना'-4 में 'पटकथा' कविता प्रकाशित हुई थी और 'आरंभ' के तीसरे अंक में प्रकाशित धूमिल की कविता के प्रसंग में दूधनाथ सिंह और लीलाधर जगूड़ी के पत्र भी धूमिल को मिले थे, जिनकी चर्चा उन्होंने अपने उक्त पत्र में की थी। पुन: विनोद भारद्वाज को अपने 10 नवंबर, 1968 को लिखे पत्र में धूमिल ने लिखा था, "मैं कविता में हूँ। कविता के बाहर नहीं हूँ। और धूमिल से अधिक सुदामा पांडेय भी नहीं हूँ।" धूमिल की कविताओं के दूसरे संग्रह 'कल सुनना मुझे' के संपादक राजशेखर ने लिखा है, "निराला और अज्ञेय के बाद की समूची पीढ़ी के शृंखलाबद्ध रचनात्मक संघर्षों और उपलब्धियों को क्रमबद्ध रूप से समझने के लिए धूमिल की संपूर्ण कृतियों का मूल्याँकन नितांत आवश्यक है ('कल सुनना मुझे', संस्करण 1977, पृ. 6)। धूमिल की सारी

संपर्क : *नया शीतल टोला, आरा-802301 (बिहार), मो. 07250201038*

कविताएँ धृतराष्ट्र लिपि की पर्याय हैं।" राजशेखर ने यह कहकर उनके जटिल काव्य-लेखक की सूचना दी है और भूसे में सुई खोजने जैसा काम बतलाया था। जहाँ तक पारिवारिक ज़िम्मेदारी की बात थी, धूमिल को इसकी ज़्यादा चिंता थी, इसलिए वे कलकत्ता में लोहा ढोने वाले मज़दूरों के साथ लोहा ढोने का काम करने लगे थे। राजशेखर के शब्द हैं, "साढ़े चार बीघे जंगल को अकेले दम काटकर उसे उपजाऊ खेत की शक्ल में बदल देने वाले गौरी शंकर पांडेय के वंश का होनहार बिरवान धूमिल स्नेहमयी विधवा माँ, मातृवत्सला चाची, चार छोटे भाइयों (कन्हैया, अर्जुन, शोभनाथ, लोकनाथ) और पत्नी को रोता-कलपता छोड़कर रोटी की तलाश में कलकत्ता चला गया।" (वही, पृं. 137) लेकिन वहाँ से स्वाभिमानी धूमिल कुछ ही समय बाद काशी लौट आए थे और आई.टी.आई., वाराणसी से परीक्षोतीर्ण होकर सरकारी सेवा में लग गए थे। इस बीच धूमिल गीत विधा से जुड़कर लेखन-कार्य करने लगे थे। उनका संपर्क शिवप्रसाद सिंह, नामवर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री आदि लेखकों से उन्हीं दिनों हुआ था। राजशेखर ने इस प्रसंग में लिखा है, "नामवरजी ने धूमिल के व्यक्तित्व को माँजा, त्रिलोचन ने उसमें भाषिक समझदारी पैदा की और काशीनाथ सिंह ने उसे नए अंतरिक्षों से जोड़ा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और पं. विद्यानिवास मिश्र जैसे समकालीन चिंतकों के बीच उसने साहित्य के नए काव्य-मूल्यों और आयामों को गंभीरता से समझने का प्रयास किया। राजकमल चौधरी से एलेन गिन्सबर्ग तक वह अपने संधान की दिशाओं में अनवरत गतिमान रहा" (उपर्युक्त, पृ. 16)। इस प्रकार धूमिल के रचनाकार-व्यक्तित्व, कविता और काव्य-विवेक का निर्माण और विकास हुआ।

धूमिल का मानना था, "सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोल कर रखते हैं।" इसी अर्थ में धूमिल यह भी मानते थे, "कविता की असली शर्त है आदमी होना" यानि भाषा में आदमी होना। आगे चलकर उनका यही विचार व्यापक स्तर पर वैज्ञानिक चेतना से जुड़ गया था, जिसके अनुसार उनका कहना था, "आज का कवि वैज्ञानिक चेतना का कवि है, एक ऐसा कवि, जिसकी दृष्टि विश्व की संपूर्ण क्रियाशीलता का अध्ययन कर रही है। उसके सामने तीव्रगामी विकास है, निरंतर परिवर्तन की श्वास से दहकता हुआ। हर वस्तु, हर मान्यता टकराती हुई, टूटती हुई और पुनः संयोजित होने के लिए आतुर और स्थापत्य की भयावह संक्रामकता में अस्तित्व अकेला रह गया, घुटन भरे वातावरण से खंडित व्यक्तित्व पर अनास्था हमारी कविता का मूल स्वर नहीं और इसके प्रमाण हैं नई कविता के कुछ अंकुठित गायक।" (उपर्युक्त, पृ. 31)। ज़ाहिर है उस समय तक यानि 1970 के आस-पास की सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों में धूमिल अग्रगामी सोच के तहत कविताएँ लिखने लगे थे और महसूस करने लगे थे कि "हमें एकांत की दमघोंट उचाट से बाहर निकल कर प्रश्नों के उत्तर ढूँढने को चौरस्तों पर खड़ा होना पड़ेगा।" उनका इन स्थितियों में यह कहने का एक ख़ास महत्व भी था कि "हमें नई कविता के आगे सोचना है, नई कविता के नाम पर फैली विकृति के विषय में सोचना है, दलदल पर नए तख़्ते रखने हैं ताकि नए भाव, नई आस्थाएँ उसे पार कर सकें।" यही समझ धूमिल को अपने परिवेश के गिर्द फैले सामान्य जन-जीवन से जोड़ सकी तथा दूसरी तरफ़ उन्हें किसान-चेतना से भी लैस कर सकी। फलतः धूमिल की यह धारणा विकसित हुई कि "युवा लेखन के लिए राजनैतिक समझदारी ज़रूरी है। बिना इस राजनैतिक समझदारी के आज का लेखन संभव नहीं। यह वर्गीय समझदारी है। क्या बराबरी का दर्जा और आत्महीनता से मुक्ति का रास्ता एक नहीं है? यह आता कहाँ से है? आर्थिक मुक्ति से और इसी को सब टुकड़खोर और हरामख़ोर शब्दों के कुहासे से ढँकने की व्यर्थ कोशिश करते रहे हैं। क्या युवा लेखक भी इसी में शरीक हो जाएँ? नहीं वह इस षड्यंत्र के ख़िलाफ़ भीषण प्रतिरोध में लगा है। वह आफ़ेंसिव है। सहना नहीं। अब वह प्रत्याक्रमण में भी पहल कर रहा है।" (उपर्युक्त, पृ. 32)। यही कारण है कि धूमिल सातवें दशक की कविता से अपनी पहचान तेज़ी से बनाने में लगे थे, जिसकी चर्चा करते हुए नामवर सिंह ने लिखा था, "धूमिल उस सातवें दशक की उपज हैं, जिसका आरंभ भारत-चीन सीमा-संघर्ष से हुआ और जिसमें पाकिस्तान के साथ थोड़े से अंतराल पर दो-दो लड़ाइयाँ हुईं। 1967 का भयंकर देशव्यापी अकाल पड़ा, राजनैतिक अस्थिरता आई और नक्सली क्रांति का विस्फोट हुआ। इस आर्थिक-राजनैतिक संकट के दौर से अनेक प्रकार की निम्न-मध्यवर्गीय अराजकतावादी प्रवृत्तियाँ प्रकट हुईं, जिनमें से कुछ की अभिव्यक्ति कविता में भी हुई। धूमिल की विशेषता यह है कि उस माहौल की उथल-पुथल की तस्वीर पेश करते हुए भी वह भीड़ का हिस्सा नहीं बने।" ('आजकल', मार्च 1980 पृ. 6)

हालाँकि धूमिल इस बीच 1960 में प्रचलित अकविता के थोड़े प्रभाव में भी थे और 'अकविता' नामक पत्रिका के अंक-7 में उनकी एक कविता 'शांतिपाठ' 'प्रकाशित हुई थी, जिसके प्रसंग में उन्होंने 'आरंभ' पत्रिका के संपादक के नाम लिखे पत्र में स्वीकार किया था कि 'अकविता' मेरे लिए कोई आंदोलन नहीं, सिर्फ़ एक छोटी पत्रिका है। इसलिए धूमिल की पूर्ववर्ती कविताओं में अकविता के अर्थ-व्यंजक कुछ शब्द प्रयुक्त हुए थे, जिसके पीछे 1962-63 में बनारस में रह रहे एलेन गिन्सबर्ग और राजकमल चौधरी के प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता लेकिन राजकमल की मृत्यु के बाद उनपर लिखी धूमिल की कविता दरअसल राजकमल के ख़िलाफ़ ही ठहरती है जिससे सपष्ट हो जाता है कि धूमिल पर अकविता का कोई ख़ास प्रभाव नहीं था। धूमिल के बारे में चर्चा करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि 1967-68 के बाद वैसे शब्द धूमिल की कविताओं में नहीं मिलते। प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि अकविता के मुहावरे को धूमिल ने तेज़ी से तोड़ते हुए उसके प्रति आलोचनात्मक रुख़ ही अख़्तियार किया, कारण कि बक़ौल नामवर सिंह, "अकवितावादियों की संवेदना मुख्यतः शहराती मध्यमवर्ग की कही जाती है। गाँव या क़स्बे से महानगर में आया हुआ एक कुंठाग्रस्त निम्नवर्गीय युवक अपनी मानसिक विकृतियों को जिस प्रकार शब्दबद्ध करने की कोशिश करता है उसका एक दस्तावेज़ आंदोलन है। अकविता में बहुत कुछ महानगर का नितांत आतंक व्यक्त हुआ।" ऐसी स्थिति में नामवर सिंह का मानना है कि "धूमिल को सामान्यतः गाँव-देहात की ज़िंदगी का कवि माना जाता है। धूमिल का शहर वैसे गाँव जैसा ही है। दरअसल कवि धूमिल की शक्ति का मूल उत्स ही है उनका गँवई अनुभव और किसानी संस्कार। वह दुनिया को किसान की नज़र से देखते हैं। इसलिए उनकी परिभाषाएँ, बिंब तथा मुहावरे आदि अनायास ही किसानी दुनिया से आते हैं।" (उप. पृ. 7-8)

उल्लेखनीय है कि नामवर सिंह ने धूमिल के प्रसंग में अपनी पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' (1968) में कोई ज़िक्र नहीं किया। इसलिए भी उनसे चर्चा की अपेक्षा थी और यह चर्चा भी एक बातचीत के सिलसिले में सामने आई थी। इस प्रसंग में नामवर सिंह ने धूमिल की कविता के विकास को निराला, केदार और नागार्जुन की परंपरा से जोड़ते हुए इस बात की चर्चा करना ज़रूरी समझा कि धूमिल ने अपनी कविता के लिए ठोस बिंब अपने आस-पास की दुनिया से लिए हैं। नामवर सिंह ने लिखा था, "उन्होंने एक लंबे अर्से के बाद हिन्दी कविता को 'नए पत्रों' के निराला 'युग की गंगा' के केदारनाथ अग्रवाल और 'युगधारा' के नागर्जुन की परंपरा से जोड़ने का सर्जनात्मक प्रयास किया जो एक हद तक पहले से भी ज़्यादा वास्तविक, यथार्थ और निर्मम है।"

यह बात उनकी 'खेवली' और 'गाँव में कीर्तन' कविताओं से और ज़्यादा स्पष्ट हो जाती है। इस गँवई दुनिया का कवि धूमिल 'ग्राम्या' के कवि पंत से कितना अलग और वास्तविक है, इसका एहसास इससे हो सकता है जब वह कहता है, "मैं टूटते हुए परिवार में धनुष टंकार झेलते हुए जवान बछड़े-सा कराहता हूँ।" (उप. पृ. 8)। दूसरी ओर, धूमिल की किसानी दृष्टि की चर्चा करते हुए नामवर सिंह कहते हैं "किसानी दृष्टि के द्वारा धूमिल ने हिन्दी कविता को एक नई जीवंत भाषा दी, केवल शब्द नहीं, बल्कि वाक्य-विन्यास और बातचीत का लबोलहजा भी, जिसे 'मोचीराम' की बातचीत और 'कवि 1970' के कथोपकथन में साफ़ देखा जा सकता है।" (पृ. 8)

इन बातों से स्पष्ट है कि धूमिल नामवर सिंह की दृष्टि में एक गाँव-गँवई के कवि के साथ-साथ किसानी चेतना के प्रखर कवि भी सिद्ध होते हैं। इस लिहाज़ से उनके तीनों काव्य-संग्रहों की कविताओं को देखा जा सकता है। वैसे धूमिल की एक ख़ास विशेषता यह भी है कि वे चीज़ों को सलीके से देखने की बजाय उसको निर्ममता से उकेरते हुए उनमें निहित यथार्थ की ओर संकेत करने का प्रयत्न करते थे। उनका यह काव्य-विवेक ही था जिससे उनकी कविताओं के वास्तविक अर्थ को समझा जा सकता है। उनके काव्य-विवेक की परख आलोचकों ने भिन्न-भिन्न तरीके से की है। काशीनाथ सिंह ने धूमिल पर लिखे अपने लेख 'विपक्ष का कवि : धूमिल' में एक जगह लिखा है, "धूमिल के आने तक आलोचना का मुँह कहानी की ओर था। वह आया और उसने आलोचना का मुँह अपनी ओर कर लिया। कहानियाँ तब भी लिखी जाती थीं, पत्रिकाएँ तब भी अधिक थीं, लेकिन आलोचक एकबारगी कविता की ओर घूम गए। अकेले आलोचक, ही नहीं कवि भी घूम गए। धूमिल ने अकविता, भूखी कविता, श्मशानी कविता, दैनिक कविता आदि की लालसाओं को पटरा कर दिया।" ('आलोचना' अप्रैल-जून 1975 अंक)। दरअसल धूमिल ने अकविता के मुहावरे को बिल्कुल बदल दिया और कविता की धारा ही परिवर्तित कर दी, जिसका गहरा प्रभाव उस समय के कवियों और उनकी कविताओं पर भी पड़ा। कुछ कवि तो धूमिल की कविता-पंक्तियों और उनके कविता कहने के अंदाज़ की ही नक़ल करने लगे, जिनकी चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं। इस प्रसंग में धूमिल की ये काव्य-पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं-

नेकर की नीचे का सारा नंगापन / कॉलर के ऊपर आ गया / चेहरे बड़े घिनौने लगते / पर इससे क्या फ़र्क़ पड़ गया? / ('देश प्रेम : मेरे लिए')

ज़ाहिर है सभ्यता का तकाज़ा है कि आदमी अपना नंगापन छिपाने को विवश हो जाता है और नंगापन उसके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाता है और वैसे व्यक्ति के लिए तो देश-प्रेम एक विवशता का पर्याय बन जाता है, कारण कि धूमिल इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए जो पंक्तियाँ लिखते हैं, उसका निहितार्थ है- 'देश-प्रेम मेरे लिए / अपनी सुरक्षा का / सर्वोत्तम साधन है।' दूसरे, यह धूमिल का काव्य-विवेक ही है कि समाज और देश तथा अपने आस-पास के माहौल को देखते हुए उन्होंने अनेक प्रासंगिक काव्य पंक्तियाँ लिखी हैं जो इस प्रकार हैं-

1. मैं इतना कृतघ्न नहीं हूँ कि / उस ज़मीन को धिक्कार दूँ / जिस पर मेरा जन्म खड़ा है। ('देश-प्रेम : मेरे लिए')

2. बच्चे भूखे हैं / माँ के चेहरे पत्थर / पिता जैसे काठ : अपनी ही आग में / जले है ज्यों सारा घर। ('आज मैं लड़ रहा हूँ')

3. यद्यपि यह सही है कि मैं / कोई ठंडा आदमी नहीं हूँ / मुझमें भी आग है / मगर वह / भभक कर बाहर नहीं आती / क्योंकि उसके चारों तरफ़ चक्कर काटता हुआ / एक पूँजीवादी दिमाग़ है। ('पटकथा')

4. नफ़रत की आड़ में / चीज़ें अपना चेहरा उतार कर रख देती हैं / वक़्त के फ़ालतू हिस्सों में / खेतों के भद्दे इशारे गूँजते हैं / ग्राम-सभा की लालटेन का शीशा टूट चुका है। ('गाँव में कीर्तन')

ऊपर की पंक्तियों में व्यक्तिगत और सामाजिक जन-जीवन के कई अक्स देखे जा सकते हैं, जिनको धूमिल ने अपने निजी जीवन और सामाजिक जीवन में बार-बार झेला और देखा था। यह उनका काव्य-विवेक ही था कि उन्होंने इन पंक्तियों के ज़रिए कई-कटु अनुभवों को सामने लाने का प्रयास किया था। धूमिल अपने देश, समाज और मिट्टी के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दुहराते हैं और जहाँ परिवार में भूखे बच्चे और माँ और पिता के काठ हो गए चेहरों का ध्यान आता है तब कवि को अपनी ही आग में जलते हुए अपना सारा घर-परिवार दिखलाई पड़ता है, जिसको समाज के निम्नमध्यवर्गीय परिवारों में अक्सर सामान्यीकृत होते देखा जा सकता है। दूसरे, धूमिल ग्रामीण परिवेश का चित्र अंकित करते हुए यह बतलाना चाहते थे कि गाँव में नफ़रत की आग में जलता पूरा ग्रामीण जन-जीवन 'वक़्त के फ़ालतू हिस्सों में' तब्दील होता दिखाई पड़ता है, जहाँ न्याय नाम की चीज़ देखने में नहीं आती, कारण कि ग्राम-सभा की लालटेन का शीशा टूट जाने के कारण अँधकार और अन्याय का सामना करने के लिए गाँव के कमज़ोर लोग विवश होते हैं। उक्त काव्य पंक्तियों को लिखते समय धूमिल का काव्य-विवेक इस प्रकार जागृत था कि वे चीज़ों की सही-सही परख कर रहे थे और वे यह भी महसूस कर रहे थे कि उनका पूँजीवाद दिमाग़ भीतर की आग को बाहर आने से रोकता है, इसलिए वह चाहकर भी विरोध नहीं कर पाता। बाद में यही कारण है कि वे अपनी कविता 'शब्द जहाँ सक्रिय हैं' की

पृष्ठ 20 पर जारी...

● शताब्दी स्मरण



रेणु के उपन्यास और भारतीय समाज

सर्वेश्वर प्रताप सिंह

हिन्दी उपन्यास साहित्य में रेणुजी के उद्‌भव के साथ नवीन अध्याय का सूत्रपात होता है। रेणु से पहले जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय सरीखे लेखकों के उपन्यासों ने हिन्दी साहित्य जगत में अपना प्रभुत्व स्थापित किए थे। रेणु ने उपन्यास लेखन को व्यक्तिवाद और मनोविश्लेषणवाद के चौखटे से मुक्त किया, यथार्थ की नवीन भूमि निर्मित किया और वृहत्तर समाज से पुनः जोड़ा। प्रेमचंद की परंपरा को विकसित, जीवंत और परिमार्जित किया। नया कलेवर दिया। निर्मल वर्मा ने भी लिखा है, "रेणु ने जिस तीली से किसान के धूल-धूसरित क्षितिज में छिपी नाटकीयता को आलोकित किया था उस तीली से हिन्दी के परंपरागत यथार्थवादी उपन्यास को भी एकाएक ढहा दिया था"।



रेणु के उपन्यास भारतीय समाज का वास्तविक 'लैंडस्केप' प्रस्तुत करते हैं जिसमें भारतीय समाज के हर तबके की- ग्रामीण और शहरी- उपस्थिति देखी जा सकती है। रेणु के उपन्यासों में भारतीय समाज में व्याप्त राजनैतिक-स्वार्थ और राष्ट्रवादी आंदोलन की नैतिक असफलता, स्वतंत्र भारत के काल्पनिक स्वप्नों से मोहभंग, संस्थानिक भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता, अंधविश्वास, ग्रामीण समाज का टूटन और समाज में व्याप्त विसंगतियों के चित्र उपस्थित हैं तो वहीं रेणु की दृष्टि मानवीयता और मानवीय प्रेम को बचाने के लिए भी तत्पर है।

रेणु केवल सौंदर्य के उपासक नहीं हैं। उनके उपन्यासों में, ख़ासकर 'मैला आँचल' और 'परतीःपरिकथा' में, जीवन के कुरूप, अंधकारमय चित्र भी उतने ही जीवंत और सजीव हैं जितने हर्षोल्लास के चित्र। रेणु स्वयं यह स्वीकार करते हैं उनके लिए काँटे भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना गुलाब की पंखुड़ियाँ। 'मैला आँचल' के प्रथम संस्करण की भूमिका में लिखते हैं- "इसमें फूल भी हैं, शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी- मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।" यही कारण है कि रेणु का औपन्यासिक गाँव-गाँव बन सका है और समग्रता के साथ उपस्थित है। रेणु के गाँव बोलते-बतियाते गाँव हैं। इन गाँवों की संगीत-माधुरी में पाठक रसमग्न होता है, अपने समाज से जुड़ता है तो विमर्शकार, आलोचक और शोधार्थी वैचारिक गोते लगाते हैं।

प्रेमचंद का यथार्थ औपनिवेशिक शोषण, सामंतवाद, पूँजीवाद, स्वाधीनता आंदोलन और किसान आंदोलन जैसे संघर्षों से निर्मित था, जबकि रेणु का व्यक्तित्व और यथार्थ संक्रमणशील भारतीय परिस्थितियों से निर्मित हुआ था। रेणु औपनिवेशिक भारत में युवा हुए, स्वतंत्र भारत में परिपक्व। सबसे विशिष्ट तथ्य यह है कि रेणु के उपन्यास लेखन का प्रारंभ उस समय होता है जब संवैधानिक कानून से परिचालित लोकतांत्रिक सरकार स्थापित हो चुकी थी और अपने पाँच-सात वर्ष पूर्ण करने की ओर अग्रसर थी। इन दोनों परिस्थितियों ने रेणु के भावबोध को प्रभावित किया। यह भी कह सकते हैं इन दोनों भारतीय संदर्भों ने ही रेणु के उपन्यास लेखन को विकसित किया जिसके सूत्र उनके सारे उपन्यासों में सहज रूप से दिखाई देते हैं और इसी समय के दौरान रेणु के कालजयी उपन्यासों का सृजन भी होता है। वास्तव में रेणु 1947 के संक्रमणकालीन भारत के सशक्त कथाकार हैं।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में भारतीय राजनैतिक खोखलेपन और राष्ट्रवादी आंदोलन के सामंती-पूँजीवादी चरित्र का उद्‌घाटन किया है। प्रेमचंद के प्रारंभिक हिन्दी उपन्यासों में राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रति जो अनुराग परिलक्षित होता है वह 'गोदान' लिखते समय शंका में परिवर्तित हो जाता है। इस संदर्भ में 'गोदान' के खन्ना, रायसाहब, तंखा, ओंकारनाथ, मालती, प्रो. मेहता उल्लेखनीय हैं। प्रेमचंद के इन चरित्रों के गठन में निहित अंतःशक्ति से समझा जा सकता है कि आने वाले स्वराज में क्या होने वाला है और उसका चरित्र कैसा होगा ! सामंतवाद, पूँजीवाद और बुद्धिजीवी नौकरशाही के मध्य का गठजोड़ किस भारत का निर्माण करेगा और होरी जैसे बहुसंख्यक समाज की दशा क्या होगी, यहाँ स्पष्ट हो जाता है।

संपर्क : मो. 7598176087, ई-मेल : sarveshvarpratap779@gmail.com

'गोदान' में प्रेमचंद का आदर्शवादी यथार्थवाद नष्ट होकर खुरदरे और कटु यथार्थवाद के रूप में तब्दील हो जाता है और लगभग बीस वर्ष के उपरांत रेणु के उपन्यासों में प्रेमचंद की यह शंका मुखर होकर अभिव्यक्त होती है। 'मैला आँचल' का बावनदास भारतीय राष्ट्रवादी चरित्र के खोखलेपन को उजागर करता है। उसे स्वतंत्रता के राष्ट्रवादी मूल्यों का क्षरण राजनैतिक स्वार्थ के रूप में सर्वत्र दिखाई देता है। बावनदास बालदेव से कहता है, "सोसलिस? सोसलिस? क्या कहेगा सोसलिस हमको?... सभी पाटी समान। उस पाटी में भी जितने बड़े लोग हैं, मंतरी बनने के लिए मार कर रहे हैं। सब मेले (एमएलए)-मंतरी होना चाहते हैं बालदेव ! देस का काम, ग़रीबों का काम, जो भी करते हैं, एक लोभ से।...उस पाटी में बस एक जैपरगासबाबू हैं। हा-हा-हा ! उनको भी कोई मार देगा।...फिर भसम लेने के लिए सभापति-मंतरी साथे-साथ...!" रेणु देखते हैं "जो मोरंगिया लड़कियों, मोरंगिया दारू-गाँजा का कारबार करता था।...आज कटहा थाना कांग्रेस का सिकरेटरी है !... और बावनदास स्वतंत्र भारत की 'ईमानदारी को, इंसानियत को, बस दो डेग में ही नाप लिया!"

लोक-संस्कृति की अवनति रेणु के लिए एक बड़ा मुद्दा था। सांस्कृतिक उन्नति और उसमें आम लोगों की भागीदारी समाज में मानवीय आस्था को सुदृढ़ करती है। 'परती:परिकथा' में गाँव जिस टूटन से गुज़र रहा है उसमें गाँव की सांस्कृतिक चेतना लुप्त हो रही है। लोगों के बीच दूरी बढ़ रही है और इस दूरी का अंत तभी संभव है जब गाँव में सांस्कृतिक गतिविधियाँ संपन्न हो। 'श्यामा-संकीर्तन की पहली कड़ी को जब ताजमनी ने तन्मयता से दोहराया तो गाँव का एक-एक प्राणी रोमांचित हो उठा।..रघ्घू रामायनी की गीत-कथा और सारंगी सुनकर भी जिन लोगों की चमड़ी पर कुछ असर नहीं हुआ था- वे भी आज दौड़ रहे हैं।- ...."केयटटोली का गोवरधन, श्यामा-संकीर्तन दल में मन्दिरा बजाता था। आज वह चुपचाप खड़ा देखेगा, भला ! दौड़कर घर से मन्दिरा की जोड़ी ले आता है। खोल के ताल पर मन्दिरा बजाता और नाचता मंदिर के अंदर चला जाता है। देखते-देखते डी.डी.टी. को छोड़कर सभी पुराने कीर्तनियाँ, सब भेदभाव भूलकर, कीर्तन में सम्मिलित हो गए।...ताजमनी आज दम नहीं लेगी क्या?" परानपुर में ऐसा दिन सालों बाद आया है। स्वतंत्रता के बाद परानपुर गाँव में चारों तरफ़ कानूनी-दाँवपेंच और राजनैतिक-स्वार्थ के विषाणुओं ने जिस विषाक्त वातावरण का निर्माण किया था उसमें यह अवश्य ही कुछ देर के लिए ही सही एक राहत भरी हवा थी। यही कारण था कि परानपुर का जित्तन सोचता है "...सांस्कृतिक जीवन पर राजनैतिक प्रभाव अवश्य पड़े हैं।" और उसे आशा है कि परानपुर के सांस्कृतिक जीवन को राजनैतिक प्रभाव की "...काली प्रतिच्छाया सर्वग्रास नहीं कर सकी है, अभी भी"। वह परानपुर के सांस्कृतिक उन्नयन के लिए वर्षों से बंद पड़े परानपुर नाट्यशाला को पुन: जीवित करना चाहता है। उसे विश्वास है- "यहाँ के सांस्कृतिक जीवन में डुबकी लगाए बिना प्रीति के छिन्न-सूत्र को पकड़ना असंभव है!"



भारतीय समाज की मूल धुरी है जाति-व्यवस्था। जातिवाद भारतीय समाज को एकजुट करने से रोकता रहा है। भारतीय ग्राम्य-जीवन में जाति के बिना चल सकना असंभव है। चाहे सांस्कृतिक जीवन हो, सामाजिक जीवन हो या फिर राजनीति। सभी जाति के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती: परिकथा' में जातिवाद की समस्या मेरीगंज और परानपुर में विकट रूप में हैं। दोनों गाँव जातिगत रूप से बँटे हुए हैं। प्रत्येक जातियों की अपनी-अपनी टोलियाँ हैं। कह सकते हैं इन्हीं जाति-टोलियों के अलग-अलग समूह से इन गाँवों का निर्माण हुआ है। उदाहरणार्थ 'मेरीगंज एक बड़ा गाँव है। बारहो बरन के लोग रहते हैं।' हर टोली का अपना चौधरी है जो अपने जाति-नियमों के द्वारा अपने समूहों को नियंत्रित करता है। इन टोलियों के मध्य शक्ति-संघर्ष भी होता रहता है-"राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मन-मुटाव और झगड़े होते आए हैं। ब्राह्मणों की संख्या कम है, इसलिए वे हमेशा तीसरी शक्ति का कर्त्तव्य पूरा करते रहे हैं। अभी कुछ दिनों से यादवों के दल ने भी ज़ोर पकड़ा है। जनेऊ लेने का बाद भी राजपूतों ने यदुवंशी क्षत्रिय को मान्यता नहीं दी।"

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत स्थापित लोकतांत्रिक-राजव्यवस्था में जाति की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है। जाति के व्यापक प्रभाव को देखते हुए हर पार्टी अपना क्षेत्रीय नेतृत्व जातिबल को आधार बनाकर चुनती है। बावनदास 'मैला आँचल' में बालदेव से कहता है- "नहीं बालदेव, छोटनबाबू जैसे लोगों की बात जाने दो। यह बेमारी ऊपर से आई है। यह पटनियाँ रोग है।...अब तो और धूमधाम से फैलेगा। भूमिहार, रजपूत, कैथ, जादव, हरिजन, सब लड़ रहे हैं।... अगले चुनाव में तिगुना मेले चुने जाएँगे। किसका आदमी ज़्यादे चुना जाए, इसी की लड़ाई है। यदि रजपूत पाटी के लोग ज़्यादा आए तो सबसे मंतरी भी राजपूत होगा।...परसों बात हो रही थी आसरम में।" वर्तमान समय की राजनीति की धुरी हैं -जातिवाद और धर्म। चुनावों के दौरान जाति समीकरण का प्रयोग राजनैतिक पार्टियों द्वारा बार-बार किया जा रहा है।

जातिवाद की जड़ भारतीय समाज में इतनी गहरी है कि परानपुर के सांस्कृतिक भावभूमि में भी जाति का प्रवेश है। परानपुर के नाट्य मंच पर ऊँची जातियों का प्रभुत्व है। दलित समाज का शोषण सांस्कृतिक स्तर पर भी होता रहा है- "गाँव में दलित वर्ग को हर तरह से मर्दित करके रखा गया था, अब तक! नाटक-मंडली के लिए प्रत्येक वर्ष खलिहान पर ही चंदे का धान काट लेते थे बाबू लोग लेकिन, कभी भी द्वारपाल, सैनिक अथवा दूत का पार्ट छोड़कर, माने हीरो का पार्ट, नहीं दिया सवर्ण टोली के लोगों ने।"

स्वतंत्रता के उपरांत समाज में प्रत्येक चीज़ों के अर्थ और प्रयोजन बदलने लगे। राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान जिन उच्च आदर्शों की बात की गयी थी वह सब विकृत हो चले। समाज सेवी संस्थानों में व्याप्त भ्रष्टाचार, यौनशोषण और व्यक्तिगत-स्वार्थ का घिनौना खेल चलने लगा। 'दीर्घतपा' उपन्यास में रेणु इस तथ्य को सामने लाने कोशिश करते हैं। ब्रिटिशकाल में स्थापित 'विमेंस वेलफ़ेयर बोर्ड' बाँकीपुर के अंतर्गत स्थापित कामकाजी महिला

हॉस्टल है। इस बोर्ड के प्रेसिडेंट मुख्यमंत्री खुद हैं और बड़े-बड़े जाने-माने लोग सदस्य हैं। इस संस्था की सेक्रेटरी श्रीमती ज्योत्सना आनंद हैं जिनके पति व्यवसायी हैं। श्रीमती आनंद महत्वाकांक्षी स्त्री है जो अपने स्वार्थपूर्ति हेतु अपने दलाल बागे के माध्यम से हॉस्टल में ट्रेनिंग के लिए आई हुई लड़कियों में से गौरी और विभा का बलात्कार ऊँचे-ऊँचे पद अवस्थित माननीयों से करवाती है। और इस बलात्कार का ठीकरा निर्दोष हॉस्टल की सुपर बेला गुप्त और नौकरानी रामरति के सिर पर फोड़ा जाता है। इस उपन्यास में न्यायालय में बेला गुप्त की चुप्पी न्याय-व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है जो न्याय-व्यवस्था पर सवाल खड़ा करता है। सारे बयानों को पुलिस जिस प्रकार अदालत में प्रस्तुत करती है वह पुलिस-व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार का घिनौना रूप प्रस्तुत करती है।

'दीर्घतपा' उपन्यास स्त्री-शोषण का उपन्यास है। बेला गुप्त, रामरति, अंजू-मंजू, विभा, गौरी सभी शोषित हैं। स्त्री तर्क नहीं कर सकती। उसका कार्य है बिना प्रश्न किए कार्य करना। स्त्री-जीवन के चरित्र पर उपन्यासकार लिखता है- "तर्क मत करो। बाँके पुरुष है। तुम स्त्री... उसका जब जी में आवेगा- तुम्हारा उपयोग करेगा। ....उसका चमड़े का पोर्टफ़ोलियो-बैग है- उसे वह जब चाहता है, खोलता है, बंद करता है। चमड़े का थैला तर्क नहीं करता। बेला क्यों तर्क करती है?" 'पल्टूबाबू रोड' स्त्री-शोषण का खंडकाव्य ही बन पड़ा है।

रेणु के उपन्यास ग्रामीण जीवन के चित्र हैं। ग्रामीण जीवन के अनगढ़, खुरदरे और सरल जीवन का जीवंत प्रवाह उनके औपन्यासिक लोकवृत्त को निर्मित करता है। गाँव में रहने वाले इन भोलेभाले लोगों के प्रति पाठक में कभी प्रेम उत्पन्न होता है तो कभी मंगलदायक खीझ कि ये ग्रामीण क्यों ऐसी मिट्टी के बने हैं जिनके कारण वे इतनी आसानी से धोखेबाज नेताओं और दलालों के चंगुल में फँस जाते हैं। परती : परिकथा में ग्रामीणों के इसी भोलेपन का फायदा लुत्तो, गरुड़धुज जैसे कांग्रेसी एजेंट उठाते हैं, उनको छलते हैं। उनके आपसी झगड़ों और स्वार्थों के मध्य बिचौलिया बनकर आर्थिक शोषण करते हैं। गरुड़धुज के विषय में रेणु लिखते हैं- "गरुड़धुज झा घर-घर का हाल जानता है।...ऊँचे चढ़के देखा। घर-घर एके लेखा। लेकिन, ऐसा कभी न देखा। गरुड़ झा ने क्या, कभी किसी ने नहीं ! और कोई माथा घुमावे या नहीं, गरुड़ झा भंग के नशे में कभी-कभी सब कुछ देखता है। एक-एक घर की तस्वीर...एक-एक परिवार के हरेक सदस्य को हवा में डोलते हुए देखा है, उसने। इसलिए, गरुड़ झा को पूरा भरोसा हुआ- उसका व्यापार कभी मंदा नहीं होगा। गाँव थिर नहीं। पहले से भी ज़्यादा वेग से दौड़ रहा है सारा समाज। सोच में पड़ने की आवश्यकता नहीं। लड्डू लड़ेंगे, बुँदिया झरेगी।... झर-झर झरते हुए लोग !..."

गाँव की अस्थिरता के पीछे सरकारी नीतियाँ ज़िम्मेदार हैं। 'परती: परिकथा' में गाँव में यह अस्थिरता 'लैंड सर्वे सेटलमेंट' के त्रुटिपूर्ण क्रियान्वयन के कारण उत्पन्न हुई है। गाँव में जब भूमि की पैमाइश शुरू होती है तो सारी पार्टियों के नेता स्वार्थ और वोट की राजनीति खेलने लगते हैं। ऐसी स्थिति में गरुड़ झा और कांग्रेसी लुत्तो जैसे दलाल सक्रिय हो उठते हैं। भाई-भाई के बीच, घर-घर के बीच और टोले-टोले के बीच ज़मीनी विवाद उत्पन्न करके और सरकारी कर्मचारियों से साठ-गाँठ करके अपनी राजनीति और दलाली चमका रहे हैं। इसी कारण गरुड़ झा को भरोसा है- "उसका व्यापार कभी मंदा नहीं होगा।.....लड्डू लड़ेंगे, बुँदिया झरेगी।...झर-झर झरते हुए लोग !"

आदर्शवादी उपन्यास 'कितने चौराहे' के अतिरिक्त किसी भी उपन्यास में रेणु अपने लेखन के माध्यम से किसी 'यूटोपिया' का निर्माण नहीं करते हैं बल्कि उनके लेखन ने स्वतंत्रता-संघर्ष के दौरान निर्मित आदर्शों के खोखलेपन को स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में स्वाधीन भारत में न गाँधी का रामराज्य स्थापित हुआ और न ही प्रेमचंद का आदर्शवाद और न ही भगत सिंह के समाजवाद का। इन सारी परिकल्पनाओं को पार्टीबंदी, विभाजन और राजनैतिक-स्वार्थलिप्सा ने तहस-नहस कर दिया। बावनदास की हत्या और बेला गुप्त के कारावास के साथ ही बची-खुची आशा भी समाप्त हो जाती है।

रेणु ने अपने उपन्यासों के माध्यम से सधुक्कड़ी भाषा को पुनर्जीवित किया और इस बहाने आम जनजीवन को जगह दी। रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती:परिकथा' में प्रेमचंद के पात्र किसान होरी के वंशज अपनी भाषा के साथ अब कोई मिलावट नहीं करना चाहता है। उसकी जैसी भी टूटी-फूटी भाषा है उसको स्वीकारना होगा। भाषाई आँचलिकता के प्रति रेणु का यह आग्रह स्थानीयता के महत्व को स्थापित करता है। और इस भाषाई आँचलिकता को भारत के मूलभूत तत्व के रूप में देखा जाना चाहिए।

रेणु के उपन्यासों में उदात्त प्रेम-संगीत का झरना कल-कल प्रवाहित होता दिखाई देता है। जित्तन-ताजमनी-इरावती का प्रेम हो या मलारी-सुवंश का प्रेम या कमली-प्रशांत का प्रेम, या बालदेव-लक्ष्मी का। 'मैला आँचल' में प्रशांत गाँव में रहकर' प्रेम की खेती' करना चाहता है तो मलारी-सुवंश गाँव से भागकर अपना प्रेम पूर्ण करते हैं। वहीं जित्तन और ताजमनी का प्रेम मूक गति से बढ़ता हुआ पूर्णता प्राप्त करता है। इनका प्रेम राधा-कृष्ण प्रेम की भाँति बचपन से ही वट वृक्ष की भांति अपना विस्तार करता है और स्वीकार-अस्वीकार की सीमा से मुक्त प्रेम है। रेणु के ये प्रेमी युगल जाति बंधन की सीमा अतिक्रमण कर चुके हैं और मानुष-प्रेम को ही मनुष्य-सत्य के रूप में स्थापित करते हैं। रेणु को आशा है कि सांस्कृतिक गतिविधि और प्रेम के सूत्र गाँवों को बचा सकते हैं। इस बिंदु पर रेणु आशावादी दिखाई देते हैं। यह आशावाद रेणु के मानवीय व्यक्तित्व के लिए ज़रूरी भी है।

रेणु के उपन्यासों को आज पढ़ना पाठक-अध्येता के लिए चुनौतीपूर्ण कार्य है। जब हम कोई रचना पढ़ते हैं तो हमारे सामने पहली चुनौती होती है कि उसे क्यों पढ़ें? पठन स्वयं में एक कठिन प्रक्रिया है। पठन अपने मूल में समय-यात्रा है। जब हम किसी कृति के अंदर प्रवेश करते हैं तो समय का एक खंड उपस्थित होता है। पाठक-अध्येता के अपने समय और कृति के समय के मध्य लगातार द्वंद्वात्मक स्थिति बनी रहती है। तनाव रहता है। यह स्थिति रेणु के उपन्यासों के पठन के दौरान भी बनी रहती है। रेणु के उपन्यासों में उपस्थित भारतीय समाज और कालखंड के अंतर्विरोध, अंतर्द्वंद्व और विसंगतियाँ आज के संदर्भ और कालखंड में और अधिक महत्वपूर्ण बन जाते हैं। जिन समस्याओं से रेणु के पात्र और गाँव लड़ रहे थे क्या आज वही समस्याएँ और भी प्रगाढ़ होकर समाज को मथ नहीं रहीं हैं? क्या आज जातिवाद नहीं है?, क्या सांप्रदायिकता का ज़हर नहीं फैला है? क्या आज भारतीय राजनीति स्वार्थलिप्सा से रोगग्रस्त नहीं है? क्या गाँवों में ग़रीब निम्न जातियाँ भूमिहीन नहीं हैं? ये सारे प्रश्न रेणु के भी सामने थे और आज रेणु के पाठक-अध्येता के सामने भी बल्कि और विकट रूप में.... ❑

● जन्मदिवस पर



केदारनाथ सिंह
काव्य-संसार: विस्तार और वैविध्य

विकास कुमार यादव

केदारनाथ सिंह के विषय में एक बात बार-बार कही गई है और कही जाती है कि- वह बिंबों के कवि हैं। इसका एक बहुत सीधा कारण जो मुझे समझ में आता है, वह है उनका बिंब पर किया गया शोध कार्य- 'आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब-विधान'। दूसरा कारण जो समझ में आता है, वह है उनका तीसरा सप्तक के कवि वक्तव्य में दिया गया बयान- "कविता में मैं सब से अधिक ध्यान देता हूँ बिंब-विधान पर"। अत: लगता है कि सुविधा के चलते उनकी कविता को उनके इस वक्तव्य शोध-कार्य से जोड़ लिया गया है जबकि बिंबों की बहुलता और बिंब-रचना का कौशल उनके अनेक समकालीनों के यहाँ कहीं ज़्यादा है जैसा कि शमशेर बहादुर सिंह और केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में देखा जा सकता है-

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे / भोर का नभ / राख से लिपा हुआ चौका / अभी गीला पड़ा है, / बहुत काली सिल ज़रा-से लाल केशर से / कि जैसे धुल गई हो-,

('शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ', पृ. 102)

या

जल रहा है / जवान होकर गुलाब, खोल कर होंठ / जैसे आग / गा रही है फाग।

('केदारनाथ अग्रवाल : प्रतिनिधि कविताएँ', पृ. 109)

लेकिन, हिन्दी में एक अजीब-सा चलन चल पड़ा है और वह है कि एक बार कोई बात चल पड़ती है तो चलती ही रहती है। इसी तरह की बात है कि- केदारनाथ सिंह बिंबों के कवि हैं, जो एक बार उनसे चिपक गई तो बस चिपकी हुई है जबकि इनके काव्य-संसार की यात्रा के दौरान हम पाते हैं कि इनकी शुरू की कविताओं में बिंब की अधिकता ज़रूर है लेकिन बाद में वे क्रमश: बिंब से मुक्त होने की ओर अग्रसर हुए हैं। यानी बिंब उनकी बाद की कविता में भी है लेकिन वही सब कुछ नहीं है पर यह ज़रूर है कि वह कविता का एक महत्वपूर्ण तत्व है। ऐसा नहीं है कि बिंब-प्रधान कविता प्रगति-विरोधी होती हैं। यदि ऐसा मान लें तो शमशेर और मुक्तिबोध की अधिकाँश कविताओं को प्रगतिशील दायरे से ख़ारिज कर देना पड़ेगा-

हाँ, तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं / जिनमें वह फँसने नहीं आतीं, जैसे हवाएँ मेरे सीने से करती हैं / जिसको वह गहराई तक दबा नहीं पातीं।

('शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ', पृ. 109)

या

घुसती है लाल लाल मशाल अजीब-सी / अंतराल विवर के तम में / लाल-लाल कुहरा, कुहरे में, सामने, रक्तलोक-स्नात पुरुष एक / रहस्य साक्षात्!

और 'अँधेरे में', मुक्तिबोध रचनावली : दो, पृ. 322)

जबकि, उपरोक्त कविताओं में से पहली कविता की पँक्तियों के विषय में रमण सिन्हा ने कहा है कि- "यह आधुनिक प्रेम का घोषणा पत्र है- यहाँ किसी भी प्रकार के मालिकाना हक़ या इदंममत्व (पज़ेसिवनेस) का घोर विरोध है। यह सच्चे अर्थों में, एक उन्मुक्त लोकतांत्रिक प्रेम की माँग व चाह है।" दूसरी कविता को तो स्वयं कवि केदारनाथ सिंह ने, हिन्दी का 'वेस्टलैंड' कहा है।

अत: जो लोग बिंबात्मक कविता को जन-विरोधी मानते हैं और कविता का 'यथार्थ से एक पूरी मुठभेड़' होनी चाहिए, ऐसा ख़याल रखते हैं उन्हें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि कविता का जिन कारणों से गद्य से फ़र्क है उनमें से एक यह भी है कि वह पाठ-प्रक्रिया के दौरान एक रचनात्मक बाधा पैदा करती चलती है। कविता में जिन तत्वों के द्वारा यह रचनात्मक बाधा उत्पन्न की जाती है उनमें से एक बिंब भी है। बिंब, कविता पाठ के दौरान पाठक को रोकता-टोकता चलता है और एक हद तक विवश करता है कि वह रुके और ठहर कर सोचे, ताकि वह कविता के विषय में तात्कालिक निर्णय देने से बच सके। आज मुक्तिबोध जिन कारणों से बड़े कवि हैं उनमें से यह सबसे प्रमुख है कि- उनकी कविताएँ रचनात्मक बाधा सबसे ज़्यादा उपस्थित करती हैं लेकिन हम मुक्तिबोध को जन-विरोधी कवि नहीं कहते हैं। शमशेर को भी हम प्रगति-विरोधी कवि नहीं कहते हैं जबकि उनकी भी कविताएँ इस तरह की बाधा उपस्थित करती हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता यथार्थवादी नहीं हो सकती लेकिन वह यथार्थ के बिना भी नहीं रह सकती। उसे आवश्यक मुक्ति चाहिए। बँधे-बँधाए ढाँचे में कविता नहीं रची जा सकती। वह कवि के अनुभव के कारण रूप लेती है। इसीलिए संसार के अनेक कवि एक ही विचारधारा से जुड़े होने के बावजूद भी एक जैसी कविता नहीं रच पाते हैं। जैसे कि शमशेर और मुक्तिबोध की कविताओं का शिल्प, भाषा और विषय के स्तर पर पूरा ताना-बाना ही भिन्न है। इस भिन्नता की व्याख्या अगर विचारधारा के आधार पर करें तो कठिनाई होती है।

***संपर्क** : मो. 9871532075, ई-मेल : vikash1992jnu@gmail.com*

यहीं से एक बात और निकल कर आती है, वह यह कि- कवि के लिए राजनैतिक चेतना ज़रूरी है न कि किसी राजनैतिक दल का सक्रिय सदस्य होना। ऐसा नहीं है कि किसी राजनैतिक दल का सक्रिय सदस्य बनकर ही महत्वपूर्ण कविता लिखी जा सकती है। केदारनाथ सिंह उसी तरह से मार्क्सवादी हैं जैसे शमशेर। बाबा नागार्जुन की काव्य-पँक्ति- 'होंगे दक्षिण, होंगे वाम, जनता को रोटी से काम' की तर्ज़ पर केदारजी ने भी जनता तक अपनी बात पहुँचाने के लिए कभी बिंब तो कभी कथा (लोककथा) का उपयोग करने में कभी यह संकोच नहीं किया कि कहीं उन पर कलावादी व जनविरोधी होने का आरोप तो नहीं मढ़ दिया जाएगा।

अत: बिंब को नहीं छोड़ा जाना चाहिए लेकिन बिंब मोह छोड़ देना चाहिए। बिंब-बहुल कविता अपने आशय को क्षतिग्रस्त कर देती है। इसलिए बिंब का चयन बहुत सावधानी से करना चाहिए। कविता में आज भी बिंब का महत्व है और आज भी उसका बहुत सारा ताना-बाना बिंबों से ही बुना जाता है। बिंब तो कविता में किसी-न-किसी रूप में रहता ही है पर यह ज़रूर है कि वही कविता का सब कुछ नहीं है।

यह बात तो उन्होंने 'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में भी स्पष्ट रूप से कही थी कि- बिंब कविता का एक महत्वपूर्ण तत्व है जो केवल 'रूप' से संबंध नहीं रखता, वह स्वयं विषय-वस्तु से भी उतना ही जुड़ा हुआ है (यद्यपि ये अलग बात है कि आलोचकों ने कुछ और ही सुन लिया!)। यानी कविता में बिंब का महत्व तभी है जब वह अपनी विशिष्टता को खोकर, समूची कविता में घुल-मिल जाए। जहाँ कहीं भी बिंब अलग से झाँकते या चमकते हुआ दिखाई देते हैं वहीं वे कविता को कमज़ोर कर देते हैं।

इतना ही नहीं, केदारनाथ सिंह का पहले बिंब पर वक्तव्य देना और बाद में उससे मुक्त होते जाना, उनकी 'नई कविता' से 'समकालीन कविता' में छलाँग है। कवियों का वक्तव्य देना 'नई कविता' की पहचान है। समकालीन कवियों ने कभी भी अपनी ओर से यह घोषणा नहीं की कि- "हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं।" इन्होंने अपनी और अपने दौर की कविताओं पर प्राय: न तो कोई वक्तव्य दिए और न ही अधिकाँश काव्य-संग्रहों की भूमिका लिखी। दरअसल, "आज की कविता 'चीख़' के विरुद्ध 'समझदार चुप' पर अधिक भरोसा करने वाली है।" लेकिन ऐसी घोषणा (हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं) करने वाले 'नई कविता' के कवि 'वाद' के जाल से बच नहीं पाए जबकि समकालीन कवि किसी वाद विशेष के मोह (जाल) में नहीं फँसता क्योंकि वह जानता है कि- "जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।" वैसे भी 'समकालीन कविता' का दौर हिन्दी कविता की विकास यात्रा में विभिन्न 'आंदोलनों' व 'वादों' से मुक्ति का दौर है। नामवरजी ने भी कहा है, "कविता की दुनिया में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता आदि की बाड़ेबंदी एकदम टूट गई और इस तरह के लेबल निरर्थक साबित हुए। नतीजा यह हुआ कि आज की कविता पर कोई लेबल चिपकाना संभव नहीं है- न विचारधारा और न काव्यशिल्प का।"

अत: समकालीन कवि केदारनाथ सिंह पर भी 'बिंबवादी कवि' का 'लेबल' चिपकाना उचित नहीं है क्योंकि उनकी कविता मात्र बिंबों तक ही सीमित नहीं है। समकालीन कविता की रचना-प्रक्रिया का दबाव उनकी कविता को किस दिशा में ले जाता है यह समझने के लिए उनके काव्य-संग्रहों- 'ज़मीन पक रही है', 'यहाँ से देखो' व 'अकाल में सारस' को देखा जा सकता है, जहाँ उनकी कविताएँ उनके 'तीसरा सप्तक' की बिंबोन्मुख काव्य-संवेदना से अलग एक दूसरा ही रास्ता बनाती हुई दीख पड़ती हैं। बिंब-संबंधी उनकी अवधारणा में आए इस परिवर्तन को उनके इस कथन से भी समझा सकता है- "कविता में आया हुआ हर शब्दचित्र बिंब नहीं होता।... किसी अप्रस्तुत अथवा शब्दचित्र के बिंब के स्तर तक पहुँचने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि वह भौतिक अर्थ में मूर्त हो, बल्कि यह उससे भी ज़्यादा आवश्यक है कि वह ऐतिहासिक अर्थ में भी मूर्त हो। ऐतिहासिक मूर्तता से मेरा तात्पर्य बिंब की उस तात्कालिकता से है, जिसके चलते वह अपनी एकांत मूर्तिमत्ता को अतिक्रांत कर अपने समय की वास्तविकता से एक गहरे स्तर पर संपृक्त हो जाता है।... इस दृष्टि से नई समीक्षा द्वारा उदाहृत अधिकाँश बिंब केवल स्थूल अर्थ में ही बिंब कहे जा सकते हैं, ऐतिहासिक मूर्तता की दृष्टि से उन्हें काव्य-बिंब नहीं कहा जा सकता।"

बिंबों की 'ऐतिहासिकता' का विशिष्ट उदाहरण है 'यहाँ से देखो' में संग्रहित 'बनारस' कविता। इस कविता में जो भी बिंब व चित्र आए हैं उनका संबंध बनारस के वास्तविक जीवन से है, कबीर की क्रांतिकारी परंपरा (आँखन देखी) से है। कविता की शुरुआती पँक्तियों में ही 'लहरतारा' तालाब का ज़िक्र आता है, जहाँ कबीर पाए गए थे। इस परंपरा ने बनारस में मोक्ष की 'मिथकीय' व 'पुरोहितवादी' परंपरा को क्रांतिकारी रूप से चुनौती दी। इस कविता में आए बिंब अपनी विशिष्टता को अतिक्रांत कर अपने समय की वास्तविकता से जुड़ जाते हैं- जैसे कि भिखारियों के कटोरों के चमकते हुए ख़ालीपन का बिंब। इसका गहरा संबंध अपने समय की वास्तविकता से है। कटोरों का ख़ालीपन कटोरों से निकल पूरे शहर और युगीन सच पर छा जाता है। इसी तरह गंगा की तरफ़ जाते अनंत शव का बिंब पूरे परिवेश को मुर्दाघर में तब्दील करने लगता है।

इस शहर में वसंत / अचानक आता है / और जब आता है तो मैंने देखा है / लहरतारा या मडुआडीह की तरफ़ से

जो है वह सुगबुगाता है / जो नहीं है वह फेंकने लगता है पचखियाँ / आदमी दशाश्वमेध पर जाता है / और पाता है घाट का आख़िरी पत्थर / कुछ और मुलायम हो गया है / सीढ़ियों पर बैठे बंदरों की आँखों में / एक अजीब-सी नमी है / और एक अजीब-सी चमक से भर उठा है / भिखारियों के कटोरों का निचाट ख़ालीपन

यह शहर इसी तरह खुलता है / इसी तरह भरता और ख़ाली होता है यह शहर / इसी तरह रोज़-रोज़ एक अनंत शव / ले जाते हैं कंधे / अँधेरी गली से / चमकती हुई गंगा की तरफ़.....

बिंबों की 'ऐतिहासिकता' के अन्य उदाहरण के रूप में 'ज़मीन पक रही है' संग्रह में संकलित 'एक प्रेम कविता को पढ़कर' शीर्षक कविता को भी देखा जा सकता है जिसमें आए बिंब अपने समय की वास्तविकता से जुड़कर, उसे अभिव्यक्त करने में सहायक हैं। जैसे कि 'बत्तख़ों' और 'साखू' के पेड़ों का बिंब, जो अपनी निजी विशिष्टता को अतिक्रांत कर बहुत ही सीधे-सादे व सहज ढंग से समूची कविता में घुल-मिल जाते हैं। ये कविता में अलग से चमकते हुए नहीं दिखाई पड़ते हैं। ये पाठक का ध्यान अपनी ओर न खींचकर (उसे) कविता के मूल

अंतर्विरोध की ओर मोड़ देते हैं। इस कविता में अंतर्विरोध उसके विषय व वस्तु में है। शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह कविता प्रेम से अधिक प्रेम कविताओं के विषय में है। जहाँ, विषय भले ही प्रेम कविता हो लेकिन उसका काव्य-वस्तु उस स्त्री से संबंधित है जिसके प्रति यह कविता संबोधित है। कविता के विषय और स्त्री की नियति में एक अंतर्विरोध है। कविता के विन्यास से स्पष्ट है कि कविता चाहे प्रेम कविता ही क्यों न हो लेकिन एक स्त्री के जीवन की विडंबना को समेट पाने में असमर्थ है जिसमें अंततः न केवल स्त्री अपने ही बारे में लिखी कविता की परिधि पर खड़ी मिलती है बल्कि कविता तो उसकी हत्या पर आमादा दीख पड़ती है लेकिन अंत में ध्वस्त होती है तो केवल कविता-

वह स्त्री / न जाने कितनी देर से / कविता की बारहवीं पंक्ति में खड़ी थी / और बस का इंतज़ार कर रही थी।
उसे कहाँ जाना है- कविता इसके बारे में / बिल्कुल चुप थी
सिर्फ़ एक हल्की-सी धूप / स्त्री के कंधों पर पड़ रही थी
कविता की सत्रहवीं पंक्ति से छनकर
बाईसवीं तक जाते-जाते मुझे लगा / कविता अपनी जगह बदल रही है / एक तेज़ गोली की तरह / स्त्री के कंधों से होती हुई / साखू के पेड़ों की ओर चली गई थी कविता।

इस कविता में 'प्रेम कविता' और 'स्त्री की नियति' के अंतर्विरोध को उजागर करने के लिए बिंब अपनी तात्कालिक अर्थवत्ता को अतिक्रांत कर जाते हैं। ये बिंब पूरी कविता की भाषा व संरचना में घुल-मिल कर उसको एक नाटकीय रूप दे देते हैं, जो कविता और जीवन के मध्य के तनाव को उजागर करने की समकालीन कविता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस कविता में भी उसके मूल कथ्य और मूल अंतर्विरोध को उजागर करने में इसकी भाषा और संरचना की नाटकीयता महत्त्वपूर्ण है। केदारनाथ जी की यह विशेषता रघुवीर सहाय से मेल खाती है और मेल खानी भी चाहिए क्योंकि रघुवीर सहाय हिन्दी के पहले समकालीन कवि हैं जिनके काव्य-संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' से परिवर्तन को वह दिशा मिलती है जिसकी परिणति आगे चलकर समकालीन हिन्दी कविता की एक प्रमुख पहचान बन जाती है। कविता को बिंब, प्रतीक व उपमान आदि विभिन्न भाषायी उपादानों से मुक्त करने की छटपटाहट व यथार्थ को इन उपादानों से देखने-दिखाने की (छायावादी, प्रयोगवादी व नई कविता की इस) 'प्रवृत्ति' से मुक्ति पाने की बेचैनी इस संग्रह में स्पष्टतः देखी जा सकती है। नामवरजी ने भी 'आत्महत्या के विरुद्ध' को साठोत्तरी हिन्दी कविता की 'नकारवादी वृत्ति' से हिन्दी कविता की मुक्ति का पहला महत्त्वपूर्ण कदम माना है। रघुवीर सहाय की कविताएँ भी बातचीत की लय में जीवन के अंतर्विरोध को अभिव्यक्त करती हैं। उदाहरण के लिए 'लोग भूल गए हैं' संग्रह की 'उम्र' कविता को देखा जा सकता है-

जब तुम बच्ची थीं / तो / मैं तुम्हें रोते हुए नहीं देख सकता था / अब तुम रोती हो / तो / देखता हूँ मैं!

इस कविता में भी बिंबों व प्रतीकों का अभाव है। यहाँ बातचीत की लय में, जीवन के अंतर्विरोध को अभिव्यक्त किया गया है। वैसे भी, बातचीत बिंबों व प्रतीकों की भाषा में नहीं हो सकती। समकालीन कवि असद ज़ैदी भी कहते हैं- 'फिर भी सच है जिसे हमेशा/ साधारण ढंग से बोला जा सकता है।' इस कविता में भी मात्र 'रोना' और 'देखना' क्रियाओं के दुहराव के माध्यम से सच को कह दिया गया है। 'तब रोने' व 'अब रोने' तथा 'तब न देख सकने' व 'अब देखने' की सापेक्षता में स्त्री-जीवन के अंतर्विरोध-'उमड़ी कल थी, मिट आज चली!' को उजागर कर दिया गया है। 'तब रोने' और 'तब न देख सकने' के पीछे एक पिता का वात्सल्यमय प्रेम है लेकिन 'अब रोने' और 'अब देखने' में जो एक असहाय पिता की विवशता है। यह विवशता ही पाठक के सामने खड़ी होकर एक ज़बरदस्त अंतर्विरोध पैदा करती है।

बातचीत की लय व संवाद की भंगिमा कविता को नाटकीयता के तत्व से युक्त कर देती है। कविताओं में यह नाटकीयता यथार्थ को और अधिक दृश्यमान करती है तो साथ ही दर्शकों को उस दृश्य में डूबने से बचाती है ताकि वे उसमें निहित यथार्थ का वस्तुपरक विश्लेषण करें न कि भावुकता के उहापोह में फँस कर कोई प्रतिक्रिया दें। इस नाटकीयता को साधने के मात्र दो ही साधन हैं- सहज-संप्रेष्य संवाद की भाषा व बातचीत की लय। उदाहरण के लिए उपरोक्त संग्रह में ही संकलित 'विचित्र सभा' शीर्षक कविता को देखा जा सकता है, जिसमें बातचीत की लय और संवाद की भंगिमा कविता की नाटकीयता को बनाए रखने में अहम भूमिका निभाती है। जैसे कि, 'मैं नहीं जानता कि रघुपति का क्या हुआ होगा' जैसी पंक्तियाँ न केवल कविता की नाटकीयता बनाए रखने में मदद करती हैं बल्कि पाठक को 'रघुपति के साथ क्या हुआ होगा' जैसे दृश्यों के वस्तुपरक विश्लेषण की ओर उन्मुख भी करती हैं।

किंतु, केदारनाथ सिंह के यहाँ समकालीनता का दबाव रघुवीर सहाय से भिन्न काव्य-प्रक्रिया को जन्म देता है। वे निरंतर अमानवीय होते जा रहे इस परिवेश में सृजनात्मकता की उन प्रक्रियाओं पर ध्यान देते हैं जो मात्र जीवन के अंतर्विरोधों को ही उजागर नहीं करतीं अपितु जीवन की असह्य क्षरणशीलता के विरुद्ध जीवन की अक्षय सृजनशीलता को स्थापित करना चाहती हैं। इनकी कविताएँ इस सर्वव्यापी पतनशील व सृजनविरोधी वातावरण में भी छोटी-से-छोटी व तुच्छ वस्तु में भी जिजीविषा और सृजनशीलता की प्रक्रियाओं की खोज कर पाठक को चमत्कृत कर देती हैं। यही कारण है कि इनके यहाँ कोई भी वस्तु तुच्छ व उपेक्षणीय नहीं है। जैसे कि, 'यहाँ से देखो' काव्य-संग्रह की बहुचर्चित कविता 'टूटा हुआ ट्रक' में घास व लतरें भी ट्रक को ठीक करने की कोशिश करती हुई दीख पड़ती हैं-

मैं पिछली बरसात से उसे देख रहा हूँ / वह वहाँ उसी तरह खड़ा है / टूटा हुआ और हैरान / और अब उसमें अँखुए फूट रहे हैं / मैं देख रहा हूँ / एक छोटी-सी लतर / स्टीयरिंग की ओर बढ़ी जा रही है / एक ज़रा-सी पत्ती / भोंपू के पास झुकी है / जैसे उसे बजाना चाहती हो / एक बहुत महीन और बेआवाज़-सी ठोंक-पीट / लगातार जारी है समूचे ट्रक में...

...कल सुबह तक सब ठीक हो जाएगा / मैं उठूँगा / और अचानक सुनूँगा भोंपू की आवाज़ / और घरघरता हुआ ट्रक चल देगा...

दरअसल, यह कविता उन लोगों से मुख़ातिब है जिनकी नियति इस टूटे हुए ट्रक-सी है, जहाँ जीवन तो है (जैसे कि ट्रक पर फैली लताएँ इंगित करती हैं), पर साथ ही एक क़िस्म का ठहराव भी है। यह द्वंद्व उल्लेखनीय है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की प्रक्रिया के तहत ही 'संवाद' जैसी नई अवस्था का जन्म होता है। जैसे कि इस कविता में 'घास' उस ठहरे हुए ट्रक में एक हरकत

पैदा कर के उसे गतिमान बना देना चाहती है। वैसे भी 'लड़े बग़ैर कुछ नहीं मिलता' और 'घास' तो संघर्ष की प्रतीक ही है–

मैं घास हूँ / मेरा क्या करोगे? / मैं अपना काम करूँगा / मैं आपके हर किए-धरे पर उग आऊँगा।

केदारजी के काव्य-संसार में यहाँ तक की यात्रा से स्पष्ट है कि बिंब का महत्व 'घास' व 'लतर' जैसे बिंबों की तरह कविता की रचना-प्रक्रिया में घुलमिल कर उसकी अंतर्दैहिक इकाई का अवछिन्न हिस्सा बन जाने में है। यानी कविता में बिंब की घुलावट महत्त्वपूर्ण है, बिंब की प्रमुखता नहीं।

किंतु, आगामी काव्य-संग्रहों 'उत्तर कबीर व अन्य कविताएँ' तथा 'बाघ' में इनकी कविताएँ एक दूसरी ही राह बनाती हुई दिख पड़ती हैं। वह है- लोककथा की शैली का प्रयोग। जहाँ बिंब नहीं अपितु आख्यान महत्वपूर्ण होता है–

बिंब नहीं / प्रतीक नहीं / तार नहीं / हरकारा नहीं / मैं ही कहूँगा / क्योंकि मैं ही / सिर्फ़ मैं ही जानता हूँ / मेरी पीठ पर / मेरे समय के पंजों के / कितने निशान हैं।

वस्तुत: लोककथा की शैली का प्रयोग इनके काव्य-संसार में एक प्रस्थान बिंदु है। 'बाघ' शृंखला की कविताओं में कवि ने बाघ संबंधी लोककथाओं के मर्म तक पहुँचने का प्रयास किया है। हमारी लोककथाओं में बाघ का जो एक विलक्षण स्वरूप मौजूद है, उसने कवि को गहरे प्रभावित किया है। 'बाघ' शृंखला की कविताएँ आंशिक रूप से बाघ की इसी ऐंद्रिक उपस्थिति को चित्रित करती हैं। इन कविताओं में कवि ने ख़ालिस भारतीय परंपरा में लोककथाएँ गढ़ी हैं। एक तरह से कविता में कथा-कवि मानो कोई कहानी सुना रहा हो–

इस विशाल देश के / धुर उत्तर में / एक छोटा-सा खँडहर है / किसी प्राचीन नगर का / जहाँ उसके वैभव के दिनों में / कभी-कभी आते थे बुद्ध / कभी-कभी आ जाता था / बाघ भी / कभी-कभी दोनों का / हो जाता था सामना / फिर बाघ आँख उठा / देखता था बुद्ध को / और बुद्ध सिर झुका / बढ़ जाते थे आगे।

अत: केदारानाथ सिंह पर किसी तरह का बिल्ला चिपकाना उचित नहीं है। इनके यहाँ इतना विस्तार व वैविध्य है कि उनको किसी ख़ास मुहावरे तक सीमित कर देना उनके काव्य-संसार के साथ अन्याय करने जैसा है। वे न तो बिंबवादी कवि हैं और न ही मात्र गाँवों के कवि। उन्होंने कविता को बिंबधर्मिता से संपन्न किया है तो देशज चरित्र व आख्यान भी गढ़े हैं। मुक्तिबोध की कविताओं की तरह उनकी कविताएँ भी, क़स्बाई चरित्र से युक्त हैं। क़स्बा न गाँव है न शहर बल्कि दोनों का कोलाज है। इसी तरह से केदारजी ने भी शहरी और ग्रामीण सफ़ाई को मिलाकर प्रस्तुत किया है। इनकी कविता में गाँव या शहर का कोई बँटवारा नहीं है। दरअसल, वे तो निराला की तरह अपनी एक पहचान बनाते थे और फिर उसे तोड़ देते थे (जैसे कि, पहले बिंबों के कवि के रूप में पहचान बनाना और उसे तोड़ देना, फिर गाँवों के कवि के रूप में पहचान व उसे तोड़ देना, इत्यादि। अत: आलोचकों को इनकी कविताओं के संदर्भ में कोई निष्कर्ष प्रतिपादित करने के बजाय, संभावनाओं के द्वार खुले रहने देना चाहिए। ❑

धूमिल का काव्य-विवेक...

पृष्ठ 13 से आगे

रचना करते हुए महसूस करते हैं कि नया कुछ घटित होने वाला है, जिसकी अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में देखी जा सकती है–

इस वक़्त अलग से / मुझे कुछ भी नहीं कहना है / मैं सिर्फ़ इतना भर जानता हूँ– / कि नदी के मुहाने पर / हलचल है, और जंगल / अपना रास्ता बदल रहा है। ('शब्द जहाँ सक्रिय हैं')

कहने का अर्थ है कि धूमिल 1973 में अपनी कविता में जो बदलाव महसूस कर रहे थे वह आकस्मिक नहीं था। इसकी तैयारी वे मानसिक तौर पर पहले से कर रहे थे जिसे बाँदा-सम्मेलन (1973) ने उपयुक्त धार देने का काम किया था, क्योंकि वे इस बात को शिद्दत से महसूस कर रहे थे कि 'समय के अनुसार चलना नहीं, बल्कि समय की माँग के अनुसार चलना आवश्यक है।' दूसरे जब कविता की अंतर्वस्तु बदलने की बात थी तो वे इसकी आवश्यकता शिद्दत से महसूस कर रहे थे और सिर्फ़ शिल्प का बदलाव उन्हें ग़ैर-ज़रूरी लगने लगा था, इसलिए उन्होंने स्पष्ट लिखा, "ऐसा क्यों है कि ज़्यादातर लोग कविता से नहीं कविता के शिल्प से ऊब जाते हैं और सवाल समूची कविता को बदलने का है। वे महज़, शिल्प, बदल देते हैं गोया नींद में करवट बदल ली।" ('कल सुनना मुझे'-संस्करण 1977, पृ. 29) ज़ाहिर है कि धूमिल अंत-अंत तक शिल्प की अपेक्षा अंतर्वस्तु में बदलाव के पक्षधर रहे। शायद यही करण है कि नामवर सिंह ने धूमिल के काव्य-विवेक की परख करने के बाद ही उनकी कविताओं पर बातचीत करते हुए इस बात का उल्लेख किया था, "राजकमल चौधरी के बारे में लिखते हुए धूमिल ने एक जगह लिखा है, "इसके पहले कि वे उसे किसी अपाहिज धारणा में बदल दें, मैं उन तमाम चुनौतियों के लिए खुद को तैयार करना चाहता हूँ"। मुझे भी डर है कि धूमिल की कविता को किसी अपाहिज धारणा में न बदल दिया जाए। जैसा कि धूमिल ने स्वयं कहा है, कि उनकी कविता माँगती है समूचा आदमी खुराक़ के लिए।' यही नहीं बल्कि उनकी दृष्टि में कविता भाषा में आदमी होने की तमीज़ है, इसलिए इस समूचे आदमी को ध्यान में रखकर धूमिल की जीवन-दृष्टि को आँकना चाहिए।" ('आजकल', मार्च 1980)

इस प्रकार देखा जाए तो धूमिल अपने काव्य-विवेक का वहाँ ज़्यादा उपयोग करते थे, जहाँ कविता के सरोकार ज़्यादा से ज़्यादा जन-समस्याओं से जुड़ते हैं और कविता अपने सार्थक होने की घोषणा करती है। इसी अर्थ में धूमिल अपनी 'बारिश में भीगकर' शीर्षक कविता में सही कवि और उसकी सही कविता की पहचान करने की आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं–

क्या यह खुली सड़क काफ़ी नहीं है? / फिर हम एक छत क्यों चाहते हैं जबकि यह / सही कवियों और तुक्कड़ों की / पहचान का समय है। ❑

● श्रद्धांजलि



कैमरे की आँख से
सिनेमा सृजन का इतिहास

राजेश कुमार व्यास

कैमरे की आँख से सिनेमा सृजन का इतिहास लिखने वाले निमाई घोष के निधन के साथ ही छायांकन कला के एक युग का जैसे अवसान हो गया है। वह विश्व के पहले ऐसे छाया-चित्रकार थे जिन्होंने सत्यजीत रे की छाया-छवियों के बहाने चलचित्र सृजन की प्रक्रिया और उसके इतिहास की सूक्ष्म सूक्ष्म को अपनी कला में गहरे से अंवेरा। इस बहाने उन्होंने एक तरह से सिनेमा में नाट्य, चित्रकला, लेखन, संगीत, नृत्य आदि विभिन्न कलाओं का जो अंत:संबंध होता है, उसे भी अपने तईं व्याख्यायित किया है। सत्यजीत रे के सिनेमा निर्माण से जुड़ी साधना का दृश्य कहन है निमाई घोष की छायांकन कला। उनके छायाचित्रों में उभरे बिंब, दृश्य फिल्मांकन के पीछे के विचार, सौंदर्य और छाया-प्रकाश की छटाओं पर जाएँ तो यह भी पाएँगे कि कैमरे का उनका सृजन सिने संस्कृति की एक तरह से गाथा है।



निमाई घोष ने जो कुछ दिख रहा है, केवल उसे ही कैमरे से नहीं संजोया है बल्कि उस दिखने के भीतर घटित तमाम उन संवेगों, उत्तेजनाओं, शारीरिक हरकतों और ध्वनियों के अमूर्तन को भी छाया-प्रकाश, दृश्य के कोणों के बहाने सृजन की तमाम संभावनाओं में जिया है। कैमरे से सँजोई उनकी छायाचित्र छवियों को देखकर लगता है कि देखने के कितने कोण हो सकते हैं, कितने परिप्रेक्ष्य हो सकते हैं। छायाचित्रों का उनका यह भाव ऐसा है जिसमें किसी व्यक्ति का चेहरा भर प्रमुख नहीं है बल्कि संवेदना के साथ भाव-भंगिमाओं में सिनेमा कला के अंतर्निहित को दृश्य में जीवंत किया गया है। बहुतेरे छायाचित्र ऐसे हैं जिनमें छाया-प्रकाश के साथ ही पार्श्व परिवेश भी अपनी पूर्ण सुंदरता के साथ मुखरित हुआ है। एक छायाचित्र में कैमरे संग सत्यजीत रे फिल्म निर्माण के अपने कार्य को अंजाम दे रहे हैं परंतु उनके पार्श्व का भित्तिचित्र और ऊपर लटकता झाड़-फानूस भी जैसे बहुत कुछ कह रहा है। ऐसे उनके बहुतेरे चित्रों में टेक्सचर को अनुभूति के स्तर पर महसूस किया जा सकता है। निमाई सदा ही जो दिख रहा है, उसके अर्थ संकेतों को भी पकड़ते रहे हैं। इसीलिए यह कहने में कोई गुरेज़ नहीं होना चाहिए कि सत्यजीत रे के वह विरल छायाचित्र जीवनीकार हैं।

सत्यजीत रे की फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' जब बन रही थी तब प्रोड्यूसर ने कहा कि इसकी स्थिर छवियों के लिए मुंबई से छायाचित्रकार बुलाया जाना चाहिए। ऐसा ही हुआ। किसी ने पूछा, अब निमाई क्या करेगा? मानिक दा ने कहा वह मुझे कैप्चर करेगा। मुंबई का छायाकार मानिक दा की कार्य गतियों को नहीं पकड़ सका और थोड़े समय में ही लौट गया। अंतत: निमाई ने ही फिल्म का तमाम स्थिर छायांकन किया। असल में उनकी छायांकन कला की यह बड़ी विशेषता ही है कि वहाँ पर गतियों और दृश्य से जुड़ी क्षण में घटित संवेदना के पक्ष के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलुओं को भी गहराई से पकड़ा गया है। याद पड़ता है, रवींद्र जन्म शताब्दी समारोह वर्ष के दौरान साहित्य अकादेमी की ओर से कोलकाता जब जाना हुआ था तो वहीं संयोग से बांग्ला पत्रकार मित्र का

संपर्क : मो. 9461500204, ई-मेल : drrajeshkumarvyas@gmail.com

सुधेंदु घोष के साथ उनसे लंबा संवाद हुआ था। इस दौरान उन्होंने बताया भी, "छायांकन कंपोज़िशन को शब्दों में नहीं बताया जा सकता। यह तो उस क्षण पर निर्भर करता है, जिसे आपका कैमरा पकड़ता है। शटर स्पीड, अपरेचर आदि तो यंत्र से तय किए जा सकते हैं परंतु छायांकन का फ़्रेम तो दृश्य की संवेदना के क्षण से औचक ही तय होता है।"

सच भी है, निमाई घोष के छायाचित्र छवियों का व्याकरण भर नहीं है। उनकी छायांकन कला हमें उस कालबोध से भी जोड़ती है जिसमें बज़रिए श्वेत-श्याम से लेकर रंगीन छायाचित्रों के सफ़र में सिने सृजन का पूरा एक युग हमारे समक्ष उद्घाटित होता है। सत्यजीत रे के साथ वह वर्ष 1967 में 'गोपी ग्याने बाघा बयने' की शूटिंग के दौरान संबद्ध हुए और उनकी अंतिम फिल्म 'आगंतुक' (1992) तक उनके साथ रहे। 'सत्यजीत रे एट सेवंटी', 'सत्यजीत रे-ए विज़न ऑफ़ सिनेमा, 'रे एंड द ब्लाइंड पेंटर-एन ओडिसी इनर आई', 'मानिक दा : मेमोरिज़ ऑफ़ सत्यजीत रे' आदि पुस्तकों और देश-विदेश में प्रदर्शित उनकी छायांकन कला प्रदर्शनियों से सिने सृजन के उनके कैमरे की आँख के संवेदनशील इतिहास को देखा ही नहीं बाँचा भी जा सकता है। उनके कैमरे से सँजोए छायाचित्र सत्यजीत रे की फिल्मों और दर्शकों के बीच वह संवाद सेतु ही तो हैं जिसके ज़रिए किसी महान फिल्मकार के व्यक्तित्व, उसकी सूक्ष्म सिनेमाई समझ और सृजन सरोकारों की समझ और उसकी गहराई में उतरा जा सकता है।

बहरहाल, सत्यजीत रे के साथ निमाई घोष के छायांकन सृजन की वह दीठ भी बेहद महत्वपूर्ण है जिसमें आदिवासी भारतीय जीवन और कलाकारों की कला और उनके सृजन से जुड़ी संवेदना को भी हम देख सकते हैं। 'फ़ेसेज़ ऑफ़ इंडियन आर्ट' शृंखला के तहत उन्होंने रामकिंकर बैज, यामिनी रॉय, विनोद बिहारी मुखर्जी, हुसैन, मंजीत बावा, जोगेन चौधरी आदि द्वारा ईजल पर ब्रश से कार्य करते, रंग-रेखाओं में गहराई में डूबते और सृजन में कुछ समय के विश्राम क्षणों को अपने कैमरे की दृश्य भाषा में लिखा है। थिएटर जीवन के अंतर्गत शंभु मित्र, बादल सरकार, तृप्ति मित्रा के लिए उनके छायाचित्र भी संवेदना के 'दृश्यालेख सरीखे हैं। उन्होंने ऋत्विक घटक, मृणाल सेन जैसे फिल्मकारों की सृजनशीलता से भी हमें बहुत से स्तरों पर रू-ब-रू कराया है।

निमाई घोष की छायांकन कला का एक विशिष्ट पहलू आदिवासी जीवन की वह छाया-छवियाँ भी हैं, जिनमें आदिवासी जीवन की कठिनाइयाँ, उनके संघर्ष और तेज़ी से शहरीकरण के दौर में उनके अस्तित्व के संघर्ष को उकेरा गया है। बाक़ायदा इसके लिए उन्होंने माओवाद, नक्सलवाद से ग्रस्त बस्तर, उड़िसा के बोंडा हिल्स, अरुणाचल प्रदेश, गुजरात, आसाम आदि आदिवासी क्षेत्रों की यात्राएँ की और वहाँ के जीवन को छायांकन भाषा में अंवेरा। उनके ऐसे छायाचित्रों में आदिवासी जीवन ही नहीं है बल्कि तेज़ी से शहराती सभ्यता में गुम होती उनकी मूल पहचान को भी बाँचा जा सकता है।

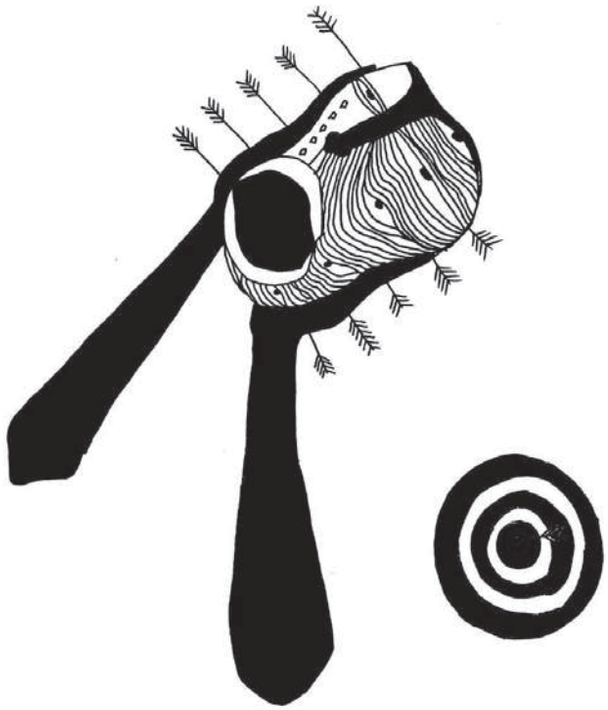
निमाई घोष ने डिजिटल कैमरे के युग में जीते हुए भी कभी उसका प्रयोग नहीं किया। वह कहते भी थे कि डिजिटल में यंत्र काम करता है, व्यक्ति की संवेदना, उसका दिमाग़ काम नहीं करता। सब कुछ मशीन ही कर देती है, ऐसे में सृजनात्मकता का कोई स्थान वहाँ नहीं है। स्वयं उन्होंने सामान्य लैंस के अलावा कभी किसी तरह के विशेष दृश्य लैंस प्रयोग नहीं किए। उनकी छायांकन कला में अर्थगर्भित दृश्यों के मोहक चितराम है तो जीवन से जुड़े अनगिनत संदर्भों की वह दृश्य भाषा भी है जिसमें जो कुछ दिख रहा है, वही नहीं उसके निहितार्थ भी प्रकट होते दिखते हैं। उनके छायाचित्र संवेदना के काव्य पाठ सरीखे हैं, जिनमें यथार्थ को मन:कल्पना और क्षण की तीव्रता में घटित भावों की गहराई में जिया गया है। छायाचित्र खिंचवाने के लिए तैयार चेहरों के बजाय उनके शबीह भी ऐसे हैं जिनमें आकस्मिक क्षणों की भाव-भंगिमाएँ ही अधिक प्रकट हुई हैं। घटनाओं, यथार्थ से जुड़े दृश्यों की लय को अपने कैमरे में अंवेरते छाया-प्रकाश को लेकर भी वह सदा सजग रहे हैं। छायांकन में प्रकाश की सदा ही उन्हें तलाश रही। वह कहते थे, छायांकन में प्रकाश मेरा बेहद प्रिय मित्र है। मैं सदा ही इस खोज में लगा रहा कि किस समय प्रकाश चेहरे, स्थानों पर पड़ता है और उसे मैं अपनी छायांकन कला में सदा के लिए सहेज लूँ।

निमाई घोष ने छायांकन की कहीं कोई विधिवत् शिक्षा नहीं ली। मित्र द्वारा दिए गए चोरी के कैमरे की सौग़ात और सत्यजीत रे की फिल्म शूटिंग देखते ही उन्होंने उनकी भाव-भंगिमाओं में खोते पहले-पहल छायाचित्र लिए और फिर बाद में यही उनका जीवन हो गया। आरंभ में वह थिएटर से भी जुड़े रहे थे। उनकी चाह अभिनेता बनने की थी परंतु सत्यजीत रे के साथ ऐसे जुड़े कि फिर उनके ही होकर रह गए। कैमरे में श्वेत-श्याम और रंगीन फिल्मों के सफ़र में उन्होंने निरंतर सृजनात्मक प्रयोग किए और बेहतरीन से बेहतरीन दृश्य सिरजे। नेशनल गैलरी ऑफ़ मॉर्डन आर्ट सहित देश-विदेश की कलादीर्घाओं में निरंतर उनके छायाचित्रों की प्रदर्शनियाँ होती रही हैं। वर्ष 2010 में उन पर 'माई लाइफ़ विद सत्यजीत रे' वृत्तचित्र भी बना तो उनकी छायांकन कला मेरी सेटन के 'पोट्रेट ऑफ़ ए डायरेक्टर', एंड्रयू राबिंसन की 'द इनर आई' जीवनियों के ज़रिए भी जन-जन तक पहुँची। भारत सरकार ने उनकी कला के लिए वर्ष 2010 में पद्मश्री से भी सम्मानित किया। निमाई का स्वप्न था, सत्यजीत रे के लिए उनके एक लाख के करीब छायाचित्रों की एक कलादीर्घा बने पर यह पूरा नहीं हो सका। वह अपने पास पड़े ऐसे लाखों नेगेटिव्स के भविष्य को लेकर चिंतित थे परंतु बाद में तस्वीरों के उनके संग्रह को दिल्ली आर्ट गैलरी के कला-संग्रहकर्ता आशीष आनंद ने ख़रीद लिया।

बहरहाल, निमाई घोष प्रकृति के रंगों में निहित रहस्यों को दृश्य संवेदना में बँचवाने वाले विरल छायाकार थे। कैमरे की आँख से उन्होंने सिनेमा सृजन का इतिहास ही नहीं लिखा बल्कि आदिवासी जीवन और भारतीय कला और कलाकारों को भी अपने छायाचित्र विवरणों-प्रसंगों को वह फ़्रेम दिया जिसमें छवियों को हम देख ही नहीं सकते बल्कि दृश्य-संवेदना की अनूठी लय में बाँच भी सकते हैं। ❑

● दोहे : **सुभाष शर्मा**





कोरोना

पल-पल हम मन की किए, नहीं प्रकृति का ख़्याल।
आय कोरोना वायरस, लिए ढाल-तलवार।।

चतुर चीन का अंग है, वुहान नाम का प्रांत।
शुरू कोरोना तहं हुआ, नहीं है कोई भ्रांत।।

मगर वहाँ से चल पड़ा, अमरीका-यूरोप।
अफ्रीका-एशिया-आस्ट्रेलिया में भी बढ़ा प्रकोप।।

विकसित देशों ने इसे, ना माना गंभीर।
धन-नस्ल के दंभ में, आख़िर भये अधीर।।

बहुत भयंकर वायरस, अभी नहीं इलाज।
जहाँ व्यवस्था सुस्त थी, भई कोढ़ में खाज।।

दहशत में पड़ ज़िंदगी, मर गए लाखों-लाख।
दुनिया फिर छोटी भई, आग ठिठुर कर राख।।

भुला दिए कुत्ते-बिल्ली
हम, औ पंछी का राग।
काटी डाली, गाछ फिर,
एक दिन सारा बाग़।।

खोंथा पंछी का अभी,
ना मुमकिन घर-साज।
ना जीवों को अन्न-जल, ना पुरखों की लाज।।

गति की अति चहुँ ओर थी, बेसी पाने की चाह।
दिनभर मॉल-बाज़ार में, घर से बेपरवाह।।

भारत की संस्कृति की, गंगा-यमुना पहचान।
दूषित-मैली कर दिए, भारत की संतान।।

अरबों धन व्ययगत हुआ, पिछले सालों-साल।
बिनु ख़र्चे कुछ मास में, निर्मल भा जल हाल।।

कूड़ा-ज़हर डालते थे हम, नदी-समंदर-ताल।
जब मानव घर के अंदर, तब तीनों खुशहाल।।

डर से सहमे जानवर, अब घूमें आज़ाद।
पहली बार सड़क पर आए, दुनिया देती दाद।।

वायु-प्रदूषण हर जगह, वाहन की भरमार।
बिनु मानव के दख़ल के, साफ़ हवा भै यार।।

आज़ादी के लोभ में, मानुष कटु व्यवहार।
कोरोना के संत्रास ने, बदल दिया आचार।।

कुछ ज़िद्दी पोंगापंथी जन, भूल गए संस्कार।
नर्स-चिकित्सक औ सेवक पर, करते अत्याचार।।

देशबंदी की वजह से, साँसत में थी जान।
गई जीविका शहर की, किए गाँव प्रस्थान।।

मोटर-गाड़ी के बिना, छिल गए उनके पाँव।
राहों में कुछ चल बसे, खान-पान न छाँव।।

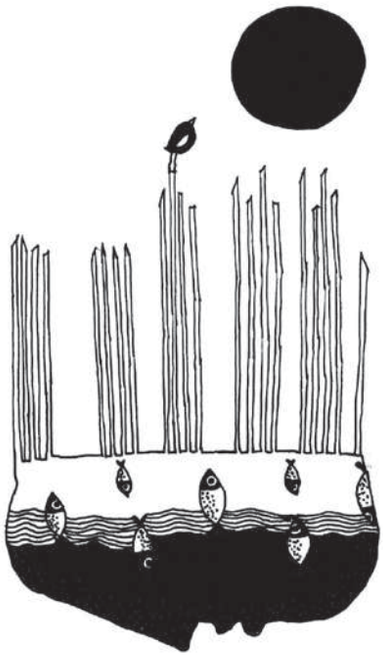
ऊँच-नीच या पंथ का, जो था अंतर-भाव।
अनजाने इस शत्रु ने, फिर लाया समभाव।।

मानवता को अंततः, इसने दी ललकार।
लो प्रकृति से काम भर, नहीं लोभ-व्यापार।। ❑

संपर्क : *मो. 9431031942, ई-मेल : sush84br@yahoo.com*

● दो कविताएँ : **मदन कश्यप**





इस कोरोना समय में

फ़ुरसत में हूँ
इसीलिए कुछ कर नहीं पा रहा हूँ
समय बहुत ज़्यादा हो तो किसी काम का नहीं होता
बिल्कुल ज़्यादा ईश्वर की तरह
और देखो ना
जो लोग ईश्वर-ईश्वर चिल्ला रहे थे
अब कोरोना-कोरोना चिल्ला रहे हैं

नहीं कहूँगा मृत्यु से डरता नहीं था
लेकिन अब तो यह बिल्कुल नहीं डरा पा रही है
पहले सोचता था यह बर्छे की तरह आएगी चुभेगी
और सब कुछ ख़त्म कर देगी
लेकिन यह तो नर्म कंबल की तरह
बाहर-भीतर लिपट गई है
फिर तो, इसके मसृण स्पर्श के साथ
आराम से मरने तक जी सकता हूँ

चेहरे और पीठ पर रैश
जैसा कुछ हो रहा है
छोटी-छोटी फुंसियाँ काले तिलों में बदलती जा रही हैं
मरने से पहले
अपने होमियोपैथिक चिकित्सक से मिल लेना चाहता हूँ

युवा दिनों में ही कान की सर्जरी करानी पड़ी थी
तब से कभी-कभी तेज़ खुजली होती है
तो दो बूँद मुलिन ऑयल डाल देता हूँ
जो पिछले कुछ महीनों से नहीं है
मरने से पहले
उसकी एक छोटी शीशी
ख़रीद लाना चाहता हूँ
बाल इतने बड़े और बेहतरीन हो गए हैं
कि आइने के सामने जाने से डरता हूँ
मरने से पहले
इन्हें अच्छे से कटा लेना चाहता हूँ

यात्रा से ढेर-सारे गंदे कपड़े लेकर लौटा था
उन्हें धो तो दिया
अब मरने से पहले
इस्तरी कराकर सलीके से
रख देना चाहता हूँ

तमाम उच्छिन्न सुकुमार इच्छाओं
को समेटकर
भर लेना चाहता हूँ आत्मा के उजाड़ में
ताकि मरने से पहले
हरी-भरी हो जाए देश की धरती

भूख से बहुत जन मर रहे हैं
और जो बचने के लिए भाग रहे हैं पाँव-पैदल
अपने गाँव की ओर
उनमें से भी कुछ थकान से मर जा रहे हैं
यह कैसा समय है कि लोग
जीवन बचाने के लिए जीवन गवाँ रहे हैं

जिसने आत्महत्या से पहले
मोबाइल बेचकर परिवार के लिए खाना ख़रीदा
और बच्चे को गर्मी से बचाने के लिए एक पुराना पंखा भी
उसनी मौत में जीवन का कितना बड़ा सपना शामिल है
उसे वे भला क्या समझेंगे
जो स्वप्न और हवस का अंतर नहीं जानते

अन्न और दवा के अभाव में मरते लोग
यों चुपचाप तो नहीं मरेंगे
मैं मरने से पहले
उन्हें जीवन के पक्ष में खड़ा होता देखना चाहता हूँ

नई सदी में ताक़तवर और हृष्ट-पुष्ट हो चुका ईश्वर
अचानक कितना निरीह दिखने लगा है
इस कोरोना समय में
मैं मरने से पहले
ईश्वर को मरता हुआ देखना चाहता हूँ।

जब हम घरों में बंद थे

जब हम घरों में बंद थे
आस-पास की गलियाँ और सड़कें सूनी थीं
हज़ारों लोग जाने किन गलियों से

संपर्क : मो. *9999154822 ई-मेल : kankashyap0@gmail.com*

निकल कर
राजमार्गों पर आ गए थे
दूर से वे बस झुंड लगते थे
ग़ौर से देखने पर ही पूरे मनुष्य दिखते थे

गोद में बच्चे को सँभालती स्त्री
कंधे पर बीमार पिता को बिठाए युवक
ढेर सारे बच्चे बूढ़े जवान अधेड़
कंधे पर थैला और आँखों में उजाड़

वे अलग-अलग दिशा से आए थे
और जाना भी अलग-अलग ही था
किसी को गोरखपुर तो किसी को भागलपुर
किसी को अलीगढ़ के पास ही रुक
जाना है
किसी को सुदूर अररिया के गाँव तक जाना है
कोई किसी को नहीं जानता था
बस एक दुख था जो सबको पहचानता था
हज़ारों की संख्या धीरे-धीरे लाखों में
बदलती जा रही थी
दिल्ली से मुंबई से
दर्जनों रास्तों से गुज़रते हुए
बेचैन काफ़िले चले आ रहे थे

एक जैसे बदहाल
एक जैसे निढाल लोग
बिना कुछ बोले ही
एक-दूसरे का हौसला बढ़ा रहे हैं

गाँव के अपने छोटे-छोटे
घरों से
छोटे-छोटे सपनों के साथ

अपने परिजनों की यादों को सीने से लगाए
अलग-अलग समय में वे तब आए थे
जब बावली आकांक्षाएँ हृदय के कोटर में
चुपचाप सोए रहने से इनकार करने
लगी थीं

उन्होंने रिक्शे चलाए
चाय के ग्लास धोए
पीठ पर बोरे लादे
माथे पर गारा-ईंट उठाकर
पचास मंज़िली इमारतें बनाईं
सब्ज़ियाँ बेचीं
अख़बार बाँटे
अपने सपनों को बदरंग करके
शहर की रंगीनियाँ बढ़ाईं
लेकिन उन्हें एक साथ लौटते देख कर
लग नहीं रहा था कि वे साथ-साथ नहीं थे
एक रोता था
तो दूसरे की चुप्पी ढाढ़स बँधाती थी

पुलिस डंडे बरसाती
तो वे चुपचाप मार खा लेते थे
मुर्ग़े बनाती, मेंढक बनाती
तो बन जाते थे
सड़क पर घिसट-घिसट कर चलने को मजबूर करती
तो वे घिसट लेते थे
उसके बाद सिपाहियों को भी समझ में नहीं आता था
कि उन्हें रोकें तो कैसे

वे इतने भूखे थे
कि उनकी भूख भूख में ही डूबती चली जा रही थी
बच्चों को कुछ खाना मिल जाए
इससे अधिक कुछ सोच नहीं पा रहे थे

जब आए थे
तब भले ही सबके सपने अलग-अलग ये
अब लौटते वक़्त
सबका ध्वंस एक जैसा था
ग़रीबी और लाचारी से बनी आपसदारी के साथ वे चले जा रहे थे
जली हुई झोपड़ी के मलबे में
जलने से बची रह गई एक गुड़िया की तरह
बची हुई उम्मीद के सहारे! ❑

● तीन कविताएँ : **केशव शरण**



अँधेरा-उजाला

अँधेरे-उजाले ने
आपस में मिलकर
तय कर लिया है
कब कौन मेरे वर्तमान में
रहेगा
और कितनी देर

मेरे अस्तित्व की क़ीमत पर
वे अपने सह-अस्तित्व के
लिए
अनुबंध कर चुके हैं

मैं तटस्थ होकर देख रहा हूँ
अँधेरा अनुबंध का सही
पालन नहीं कर रहा है।

बाज़ार

रोशनी में नहाया बाज़ार
मगर साँस लेना दुश्वार

साँस लेना दुश्वार
मगर कहाँ जाएँगे लोग भी
सुई से लेकर सूट में
हर छोटी-बड़ी छूट में
श्वास रोग भी
ग्लोबल वार्मिंग से सुस्त
आइसक्रीम खाएँगे
जगमगाती सड़क पार
सजे स्टॉल पर
किरकिराते कीटाणु मुफ़्त।

हमारी दृष्टि में

धन के भंडार से भी ज़्यादा
बड़ा है
ज्ञान का भंडार
संपूर्ण पृथ्वी पर
मगर
धन और ज्ञान का इतना बड़ा भंडार
किस काम का है
अंतत: आतंकित करने के
अलावा
जीवन को दूसरे ग्रहों पर
विस्थापित करने के

अंतिम लक्ष्य के सिवा

इतने बड़े भंडार से
शोषण और हिंसा बंद
हो जानी चाहिए
संपूर्ण सृष्टि में
हमारी दृष्टि में। ❑

संपर्क : मो. *9415295137*
ई-मेल : keshavsharan564@gamil.com

● कविता : **सुभाष राय**





अँधेरे के अंत का गीत

रात है कि ख़त्म नहीं हो रही
एक स्वप्न बार-बार
हो रहा स्वप्नभंग का शिकार
ख़त्म होकर भी ख़त्म नहीं हो रहा
गहरी अँधेरी रात में कहीं दूर से
आती एक मद्धम टिमटिमाहट की तरह

अखंड सन्नाटे में हर पल नदी में
गिर रहे अरार धम्म-धम्म
पूरे के पूरे घर बहे जा रहे अक्षत
किसी अनहोनी से अनजान पुल की ओर
एक विकराल टक्कर का इंतज़ार है
कुछ ही पलों में समूचे स्वप्न के साथ
मैं भी ढह जाने वाला हूँ अथाह जल में

एक पहाड़ दिखता है
निश्चिंत अपने वैभव के प्रति
भीतर सुरक्षित गहराई में गड़ा हुआ
मगर अचानक भहराकर गिरने लगता है
उन पौधों के साथ,
जो लाल से हरे हो रहे थे
अपनी जड़ें जमा नहीं पाए थे अभी
उखड़ गए सभी भूस्खलन में
स्वप्न में गिरा मैं भी उन पौधों के साथ
सड़क पर अचेत, अन्हुवाया-सा

हवा चल रही थी बहुत तेज़
एक विकट दृश्य था, लोग बचने के लिए
समुद्र की ओर भागे चले जा रहे थे
बड़े दाँतों वाली मछलियाँ आ गई थीं बाहर
मास्क में छिपाए अपने विध्वंसक मंसूबे
आदमख़ोर दैत्यों ने दूर तक
फेंक दिए थे जाल
लोग फँस कर चीख़ रहे थे
अदृश्य नाखूनों से घायल
मैं पूरी ताक़त से चीख़ना चाह रहा था
पर आवाज़ बार-बार
गले में फँस जा रही थी

मंदिरों के कंगूरों पर बैठे
मुँह पर सफ़ेद गमछा बाँधे
कुछ देवता स्वर्ग फल लिए
आसमान की ओर अँजुरी उठाए
लगातार प्रार्थना कर रहे थे
मनुष्यों को सलाह भी दे रहे थे
मंत्र भाषा में
इस समय सबसे ख़तरनाक है
मनुष्य का मनुष्य के पास होना
दूर ही रहना किसी भी मनुष्य से
चाहे वह जितने भी कष्ट में क्यों न हो
नितांत अकेला हो गया हो
भूखा हो, घायल हो, थककर बेहाल हो
गिर पड़ने वाला हो या गिर गया हो
मर जाने वाला हो या मर गया हो
बच्चों के पास मत जाना
चाहे वे जितने भी भूखे हों
उन्हें दूध के नाम पर खून पिलाती
स्त्रियों से भी बचना
चाहे वे जितनी निरुपाय हों, अकेली हों
मृत्यु के लिए अभिशप्त ही क्यों न हों

देखना कहीं आत्मा न जाग उठे
किसी करुणापूरित दृश्य से पसीजकर
कोई डूबती हुई आवाज़ या कोई
मरती हुई पुकार सुनकर

क्रोध में तप रही थी पृथ्वी
उसने बार-बार संदेश दिया
कई-कई दिन घनघोर बारिश के ज़रिए
अकाल के हाथों ख़त भेजकर
फाड़कर अपना सीना भी दिखाया
पर माना नहीं आत्मघात के लिए कटिबद्ध
निर्मम, लालची और क्रूर मानव
जो असल में था दानव
अब धैर्य रख पाना मुश्किल था

संपर्क : मो. 9455081894, ई-मेल : raisubhash953@gmail.com

पृथ्वी को लग रहा था
कि और प्रतीक्षा की तो
अपनी ही मृत्यु की घोषणा करनी पड़ेगी
चारा नहीं था कोई संसार के
सीमित संहार के अतिरिक्त

विकट क्षोभ का एक दृश्य था चारों ओर
काँप रही धरती, थरथरा रहे
बिजली के खंभे
उखड़ कर उड़ रहे मिसाइलों की तरह पेड़
छतें घरों को छोड़ कर निकल जाना चाह रहीं
तट से टकरा रहा फेनिल महासागर
शहरों में दाख़िल होने को उतावला
लहरों को घुमा रही वात; तेज़ और तेज़
बस्तियाँ उड़ा ले जाने को आतुर

प्रकृति के इसी अनहद अपराजेय
विक्षोभ से उपजा है मृत्यु का लघु-दूत
मारक शक्ति ले अकूत

डर ने इस तरह बाँटा कि एक
देश में बन गए अनेक देश
कुछ छोटे, कुछ बहुत छोटे
सीमाओं पर प्रहरी दिन-रात नज़र रखे हुए
हर आने-जाने वाले पर संदेह करते
कौन हो तुम, प्रश्न उछालते
परिंदे को भी प्रवेश नहीं
जो बाहर से आए भागते-भूगते
कुछ पेड़ों पर आ जमे, कुछ गड्ढों में जा छिपे
अगली सुबह के इंतज़ार में
फूट-फूट कर रोना चाहते थे होंकाड़ फाड़
लेकिन कोई जगह नहीं बची थी रोने के लिए
खुद के देश में बदल गया है हर मनुष्य
स्वतंत्र, स्वायत्त, खुदमुख़्तार
लाठी को तेल पिला काँधे डाल
घूम-घूम लेता सारे जवार का हाल-चाल
खुद ही खुद की तलवार, ढाल

बुद्धिवादी डरे हुए थे सबसे ज़्यादा
कोई आ नहीं रहा,
कोई सुनने को तैयार नहीं
बातें बहुत हैं कहने के लिए
बातें ही तो रहीं हमेशा उनके पास
अकेले पड़े, बड़बड़ाने लगे दीवारों से
बाहर के भूकंप, चक्रवात से तो सुरक्षित थे
मगर भीतर जो उठ रही थीं लहरें
उनसे बच कर कहाँ जाएँ
आत्ममुग्ध, करते तो क्या करते
संदेह और असमंजस से भरे
अपनी ही पीठ पर लादे खुद को
निकल पड़े अंतरिक्ष में
अपना दुख अपने को ही बाँटते हुए
अपनी हँसी देखकर हँसते हुए
अपने से ही सवाल करते हुए
बातें शुरू हुईं दुख से तो
जा पहुँचीं ईर्ष्या तक
भीतर भरा कचरे का पहाड़ ढहने लगा
कालिख की तरह लोकरुदन की
निर्मलता पर

जो किंचित समझदार थे, उदार थे
जिनके भीतर दूसरों के उजाड़े गए संसार थे
वे निकले अपने चुने हुए रास्ते
तमाम बाधाओं से जूझते, टकराते

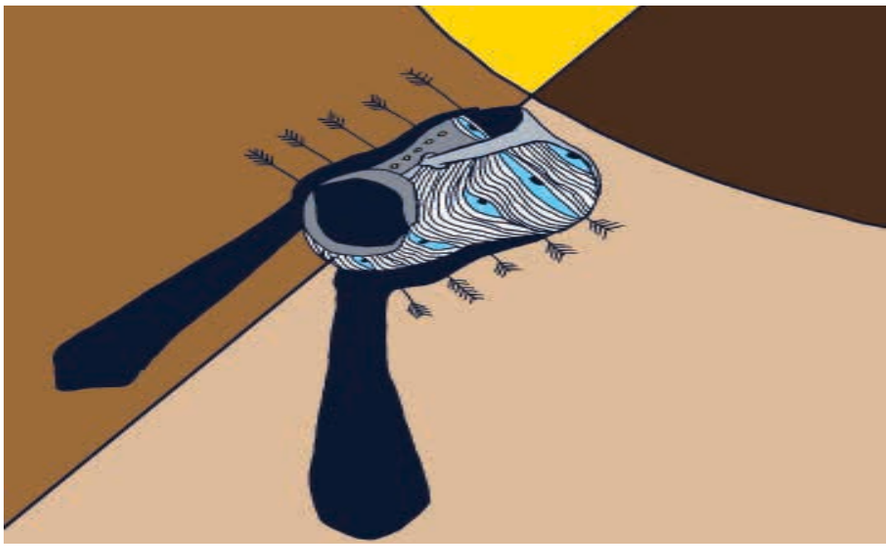
स्वप्न आ रहा है, जा रहा है
डूबता-उतराता दु:स्वप्न में उभ-चुभ
मेरी नींद बार-बार उचट रही है
मैं ठीक से सो नहीं पाया महीनों से
पूरी तरह जागे रहना भी मुश्किल है
सपने जो देखे थे कभी, करक रहे हैं भीतर
कभी बंद दरवाज़े से बाहर आ जाता
तो कभी बिना ताला खोले गेट से
निकल जाता
कभी सपनों के अचानक बिखर जाने से
आहत लोगों की आँखों के पास जा बैठता
दर्द के निर्मल, निर्दोष आँसुओं में भीगता

किसी गहरे कुएँ से जैसे एक आवाज़ आ रही है
क्या हुआ, सो गए क्या
उन्होंने मुझे अख़बारों पर झुके हुए देखा
अच्छा हुआ, उन्होंने रात में मुझे
सड़क पर चलते हुए नहीं देखा
अच्छा हुआ अन्यथा बहुत बुरा होता
अगर मैं देख लिया जाता किसी और
दरवाज़े पर दस्तक देता हुआ
मैं तो निकल जाना चाहता था
उन लोगों के पास, जो एक साथ
रात से, तूफ़ान से और छल से घिरे थे
जिनके पास कोई रास्ता नहीं था
रास्ता था भी तो वह कहीं जाता नहीं था
वे वहाँ जा रहे थे, जहाँ उनका इंतज़ार नहीं था
जहाँ उन्हें बहुत पहले ही
मरा हुआ मान लिया गया था
एक मर्मांतक स्वप्नभंग के बाद
उससे भी कठोर एक और स्वप्नभंग
वहाँ उनका इंतज़ार कर रहा था
वे घर जा रहे थे लेकिन घर नहीं था कहीं उनका
घर होने का आभास भर था जो कभी भी
भरभराकर ढह जाने की कगार पर था

बहुत दूर से वे आवाज़ दे रही हैं, उठो!
उठो!
सुबह हो गई है, कब तक सोते रहोगे
पर सुबह कहाँ हुई थी
उनकी आवाज़ मुझे किसी
सुंदर स्वप्न से गुज़र कर आती लग रही थी
मेरी नींद टूट तो रही थी लेकिन
हर अगले क्षण
वह मुझे और ताक़त से दबोच ले रही थी
यह मेरी नींद नहीं थी, यह उनकी नींद थी
जो अपने देश जाते हुए भूख और
फ़ासले की थकान से पस्त थे
मैं देखना चाहता था नींद में आगे बढ़कर
मैं मृत्यु की ओर बढ़ते हुजूम से पहले
वहाँ पहुँच जाना चाहता था
ताकि उन्हें रोक सकूँ, उनके मुँह पर
पानी के छींटे मार सकूँ
उन्हें बता सकूँ कि नींद चाहे
जितनी गहरी हो
यह सोने का वक्त नहीं है
कुछ ही देर में ट्रेन आने वाली है
पटरी के साथ चलना ठीक नहीं है
ट्रेनें अक्सर पटरी से उतर जाती हैं

अब लगातार आ रही थीं उनकी आवाज़ें
मानो वे चलकर मेरे पास आ गई हों
माथे पर कुछ गरम स्पर्श-सा अहसास
बार-बार हो रहा था मुझे
उनकी सुबह हो गई थी
उनकी सुबह रोज़ इसी तरह होती है
मेरी सुबह कहाँ थी, पता नहीं
मेरी सुबह उनके साथ है
जिनकी सुबह में अभी काफ़ी देर है
जिनकी सुबह रात से लड़े बिना संभव नहीं
इसीलिए स्वप्नभंग के बावजूद
स्वप्न में रहना चाहता हूँ
आख़िर स्वप्न भी तो अँधकार से
टकराकर ही जन्म लेते हैं
एक न एक दिन होगी उनकी सुबह
मैं भी उठूँगा स्वप्न में भीगता उस सुबह
सड़क पर आ जाऊँगा
देखूँगा एक स्वप्न को ज़मीन पर उतरते हुए
देखूँगा उन्हें भविष्य की तरह आते हुए
अँधेरे के अंत का गीत गाते हुए। ❑

● दो कविताएँ : **राजकुमार कुम्भज**





शब्द हुए भूख का अँधेरा

शब्द हुए भूख का अँधेरा
भाषा हार गई चट्टानों से टकरा-टकरा कर
मुहावरे हुए हारे हुए सेनापति का चेहरा
ख़ूबसूरत लड़की ने अपनी ख़ूबसूरती बचाए रखने के लिए
कम कर दिए दाल, चावल, रोटी, सब्ज़ी के कौर-दर-कौर
तलहटी में जाकर अटक गईं उसकी तमाम शरारतें
मौसम हुआ कि वृक्षों ने फिर बदला लिबास
मौसम हुआ कि सड़कों पर
फिर-फिर गरजीं सूर्य कि किरणें
मौसम हुआ कि बादशाह ने
फिर खोला पिटारा
हल्क़ में अटकी रही ज़िंदगी
जैसे ताज़ा ज़हर
थे कोई और थे वे जो झाँक सकते भीतर तक और लौट-लौट
आते थे फिर-फिर बाहर
फिर-फिर अपने लोगों के बीच
झुंड पक्षियों का बढ़ता गया, घटता गया
पानी
ज़रूरी चीज़ों ने महँगा कर दिया जीवन
दो पर एक फ़्री मिलने के बाद भी पछताता रहा मैं
पाँव अब मुड़ते नहीं हैं पेट की तरफ़
शब्द हुए भूख का अँधेरा।

कौन नहीं जानता है कि

कौन नहीं जानता है कि
सब कुछ का सब कुछ ख़त्म हो जाएगा एक दिन
आश्चर्य नहीं रह जाएगा किसी को भी
कि संसार में सब से सुंदर होती है स्त्री ही
दाल में काला होगा तो पकड़ा जाएगा
चाँद में दाग़ होगा तो पकड़ा जाएगा
दाढ़ी में तिनका होगा तो पकड़ा जाएगा
ऐसा कोई नया मुहावरा बताओ भाई
कि बदले मौसम तो तितली की उड़ान भी बदल जाए
ऐसा कोई नया शब्दकोष लाओ भाई
कि बदले मौसम तो पृथ्वी का धैर्य भी बदल जाए
ऐसा कोई नया शासन लाओ भाई
कि बदले मौसम तो शासक की तमीज़ भी बदल जाए
फ़र्क़ करो, फ़र्क़ करो जूही की कली के खिलने
और सड़क छाप चतुराइयों में
वजह गिलहरियाँ ही हैं हर कहीं
नीम, बबूल, आम अथवा खजूर पर चढ़ती हुई
कौन नहीं जानता है कि
सब कुछ का सब कुछ ख़त्म हो जाएगा एक दिन
और मैं मरूँगा फिर-फिर
खिलते सुर्ख़ गुलाब की तरह खिलते हुए
मुट्ठी बंद होगी और चोरी होगी
कफ़न में जेब नहीं होगी और सुविधा होगी
सबसे बढ़िया खाना होगा और
भूख नहीं होगी
घर से निकल कर चले जाएँगे लोग
जंगल की तरफ़
किंतु आतिशबाज़ी के चक्कर में
भूल जाएँगे पुख़्ता पता प्रवेश-द्वार का
हावी हो जाएँगी सुरंगों की सियासत
काले दिनों के विरुद्ध, काले दिनों का साम्राज्य है
और अच्छे दिनों के आगमन का झूलाघर
आश्चर्य की सीढ़ियों पर खड़ा एक बच्चा
ढूँढ रहा है कोमल और शांत और शीतल जगह
काठ की तलवार है, अफ़सोस भरा जीवन
सब कुछ का सब कुछ ख़त्म हो जाएगा एक दिन
कौन नहीं जानता है कि! ❑

संपर्क : दूरभाष : 0731-2543380, ई-मेल : rajkumarkumbhaj47@gmail.com

● लेख



परिवार में लौटता हिन्दी सिनेमा

संजीव श्रीवास्तव

सिनेमा युगबोध का एक ज़िम्मेदार व्यवसाय है। जैसे साहित्य समाज का दर्पण है, लेखक की आदर्श इच्छाओं का आईना है उसी प्रकार सिनेमा भी समकालीनता का प्रतिबिंब है। सिल्वर स्क्रीन समाज का घूमता आईना है। मनोरंजन और व्यवसाय उसके दो आधार स्तंभ हैं।

हिन्दी सिनेमा का व्यवसाय एक बार फिर हमारे जीवन और समाज के करीब आता दिख रहा है। मुख्यधारा का सिनेमा ज़िंदगी की पटरी पर लौटता नज़र आ रहा है। समाज और परिवार की ज़िम्मेदारियों का शिद्दत से अहसास कराने लगा है। हिन्दी सिनेमा की यह मुखरता आशान्वित करती है कि जिस माध्यम के व्यवसाय को हम महज़ मनोरंजन का उद्योग मानते हैं, उसमें सामाजिकता और परिवारबोध की प्रखरता पहले के मुक़ाबले प्रबल हुई। आज के सिनेमा की यह प्रबलता गुज़रे ज़माने की भावुकता और पलभर के थ्रिल पर आधारित नहीं है बल्कि इनका अपना अनुसंधान पक्ष है और भरसक वैचारिकी भी। आज का सिनेमा समाज को साथ लेकर चलने के लिए आगे आया है।



नए हिन्दी सिनेमा का यही युगबोध है। हाल की कुछ फिल्में इस दिशा में नई रौशनी बिखेरती हैं। हिंदुस्तान के बड़े शहरों में जब मल्टीप्लेक्स संस्कृति की शुरुआत हुई थी तो सिनेमा के केंद्र से परिवार और समाज ग़ायब हो गया था। सिनेमा को उपभोग्य वस्तु की तरह नई पीढ़ी के सामने प्रस्तुत किया गया। मल्टीप्लेक्स में आने वाली युवतम भीड़ को ही दर्शक वर्ग समझ लिया गया। अपने समय के अर्थवान फिल्ममेकर भी इस चलन के नज़दीक हुए तो ज़ाहिर है इससे सिनेमा की गुणवत्ता का क्षरण होना ही था लेकिन हमारे सिनेमा की यही बड़ी ख़ासियत है कि यह अगर पथभ्रष्ट होता है तो जल्द ही सँभलता भी है।

हिन्दी सिनेमा फिर सँभला और जिस मल्टीप्लेक्स में युवा पीढ़ी ने फिल्म को पॉपकॉर्न का स्वाद लेने का माध्यम भर समझा, वहाँ परिवार का लौटना शुरू हो गया है जोकि फ़िल्ममेकर की एक नई सोच का नतीजा भी है। हाल की कुछ फ़िल्में मसलन 'पटाख़ा', 'छपाक', 'पंगा', 'गुल मकई', 'थप्पड़', 'मर्दानी-2' आदि की बात करें तो ये ना केवल स्त्री-विमर्श की फिल्में हैं बल्कि परिवार-केंद्रित भी हैं और समाजोन्मुख भी।

हिन्दी के लेखक चरणसिंह पथिक की रचना पर आधारित फ़िल्म 'पटाख़ा' में दो बहनों की कहानी को जिस प्रकार दो दुश्मन देशों के सीमा-द्वंद्व और भौगोलिकता का प्रतीक बनाकर दिखाया गया, उससे मनोरंजन के मायने ही बदल गए। इसी प्रकार फ़िल्म निर्देशक मेघना गुलज़ार की फ़िल्म 'छपाक' ने सिल्वर स्क्रीन पर एक युगांतकारी पहल को सामने रखा। हिन्दी सिनेमा का सौंदर्यबोध, सौंदर्य प्रसाधन की चमत्कारी विज्ञापनी शैली और भाषा से कभी कम नहीं रहा लेकिन 'छपाक' ने सौंदर्यबोध की नई परिभाषा गढ़ी।

वास्तव में हिन्दी फिल्मों में शूरवीरता और सुंदरता की अपनी-सी परंपरा रही है लेकिन 'छपाक' लोकप्रियता के ऐसे तत्वों से सीधा हस्तक्षेप करती है। यह मुख्यधारा के सिनेमा के परंपरागत प्रतिमानों से मुठभेड़ है। फिल्म की मुख्य किरदार मालती अग्रवाल तमाम दुश्वारियों को सहते हुए अपने ज़ख़्म का बदला लेने में कामयाब होती है। 'छपाक' मुख्यधारा की फिल्म होकर भी संदेश प्रधान फिल्म है। इसमें किसी तरह के जादुई परिवर्तनवाद का सहारा नहीं लिया गया था। यह परिवार को साथ लेकर चलने वाली स्त्री-विमर्श की वास्तविक कहानी है।

हिन्दी फिल्मों में मुख्य अभिनेत्री अँधी, गूंगी, ग्रामीण तो कई बार बनी है लेकिन इसके बावजूद वहाँ उसके चेहरे के ग्लैमर को ख़त्म नहीं किया गया। यह फ़िल्म देखते हुए राजकपूर द्वारा निर्मित और ज़ीनत अमान द्वारा अभिनीत फिल्म 'सत्यम शिवम सुंदरम' की याद आती है। उस फिल्म में भी ज़ीनत अमान का चेहरा एक तरफ़ से जला हुआ था। पाँच दशक के बाद किसी फ़िल्मकार और अभिनेत्री ने फिर से यह साहस कर दिखाया। 'छपाक' की नायिका सौंदर्यबोधी चेतना की शिकार नहीं है। उसे सुंदरता की हताशा भी नहीं है। वह तो यथार्थ का सामना करने के लिए तैयार है लेकिन समाज में उसके वास्तविक यथार्थ का सामना कर सकने की हिम्मत नहीं क्योंकि समाज अपना सौंदर्यबोध बदलने को तैयार नहीं। यह फिल्म नया नायिका भेद गढ़ती है।

संपर्क : *मो. 9313677771, ई-मेल : sanjeevsdelhi@gmail.com*

एसिड अटैक एक जानलेवा हमला है और इन्हीं अटैक पीड़िताओं की कहानियों पर आधारित फिल्म 'छपाक' मुख्य रूप से लक्ष्मी अग्रवाल की ज़िंदगी की प्रमुख घटनाओं से प्रेरित है। फ़िल्म का एक संवाद बड़ा मारक है, "एसिड तो दिमाग़ में होता है।" यानी फिल्म सवाल उठाती है एसिड की खुलेआम बिक्री पर तो प्रतिबंध लगाया जा सकता है लेकिन जिसकी सोच एसिड जैसी घातक हो, उस पर बैन कैसे लगाया जा सकता है! ज़ाहिर है इसके लिए तो सोच बदलने की दरकार है, जिस तरफ़ यह फ़िल्म इशारा करती है और समाज में स्त्रित्व व सौंदर्यबोध के प्रति ज़िम्मेदारी का अहसास दिलाती है।

सोच, सौंदर्य, समाज, परिवार और स्त्रीत्व की कहानी कंगना रनौत अभिनीत फिल्म 'पंगा' भी कहती है लेकिन पंगा महज़ एक फिल्म का नाम भर नहीं है। वास्तव में यह मध्यवर्गीय परिवार के दायरे, समाज की रूढ़िवादी सोच और पुरानी परंपरा की सीमाओं से खुला विद्रोह भी है। यह जया निगम नामक उस कबड्डी खिलाड़ी की कहानी है जिसके किरदार में भारतीय महिलाएँ अपने-अपने दमन के अस्तित्व का प्रतिबिंब देख सकती हैं। एक गृहिणी अपने पति और बच्चे को गरमागरम पराठे खिलाने के साथ-साथ अपने सपनों के मैदान में कमबैक करती है और देश का नाम रौशन कर जाती है। एक पँक्ति में यह किसी औरत की अभूतपूर्व विजय गाथा प्रतीत होती है लेकिन इसके पीछे उसका संघर्ष और दमन समाज की लाखों, करोड़ों महिलाओं को हिम्मत और ताक़त दे जाता है। यह कहानी भी कपोल कल्पना नहीं अपितु नैशनल कबड्डी खिलाड़ी जया निगम की वास्तविक ज़िंदगी से प्रेरित है। जया निगम शादी से पहले कबड्डी की नेशनल टीम की कैप्टन रह चुकी थीं। वैवाहिक जीवन और माँ बनने के बाद वह कबड्डी छोड़ देती है और रेलवे में नौकरी करने लगती है लेकिन शादी के दस साल बाद वह कबड्डी के खेल में वापसी करती है और इसके साथ ही फिल्म भी सिनेमा हॉल में भारतीय परिवार को वापस लाने में सफलता हासिल कर लेती है। इसीलिए तो इसका नाम भी 'पंगा' है। रूढ़ परंपराओं से मुठभेड़।



'छपाक' और 'पंगा' के इतर बात 'थप्पड़' की भी है। स्त्री और परिवार यहाँ भी केंद्र में है लेकिन यहाँ स्त्री का परंपरागत रूपक नहीं है। यहाँ भी कोई सौंदर्यबोध नहीं है। बस, स्त्रीत्व अपने अस्तित्व के शिखर पर है। सालोंसाल की सोच और दमन चक्र को झकझोरती हुई सी अमृता की अपनी कहानी। बस एक थप्पड़! कहना तो आसान है लेकिन क्यों? इसका जवाब किसी के पास नहीं। फिल्म में स्त्री का यह पक्ष मज़बूती के साथ उभरा है। संभवत: किसी हिन्दी फिल्म में ऐसा पक्ष पहली बार सामने आया है। सिल्वर स्क्रीन पर स्त्री 'दामुल' में अन्याय का बदला ले चुकी है, शोषण करने वालों की आँखों में 'मिर्च-मसाला' झोंक चुकी है, 'दामिनी' कहला चुकी है, 'हज़ार चौरासी की माँ' से लेकर 'गॉडमदर' तक बन चुकी है और अस्तित्व की तलाश में 'प्रतिघात' भी कर चुकी है लेकिन घर के अंदर होने वाली हिंसा या दमन को लेकर ऐसा क़दम कभी नहीं उठाया, जैसा कि 'थप्पड़' में अमृता के किरदार ने फ़ैसला किया। एक संगठित परिवार को प्रेम का समर्पण चाहिए। बस! परिवार कोई सौदे या समझौते का कॉरपोरेट ऑफ़िस नहीं है। समर्पित प्रेम के लिए सोच में परिवर्तन की दरकार होती है। फिल्म में एक स्थल पर अमृता कहती है, "औरतों को हमेशा सह लेने के लिए कहा जाता है। ऐसा हमारी माँ ने कहा, माँ को उनकी माँ ने कहा और उनकी माँ को उनकी माँ ने। माँ, दादियाँ सदियों से यही कहती आई हैं।" ख़ास बात ये कि फ़िल्मकार ने इसे दिखाने के लिए कहानी में कोई वर्ग भेद नहीं रखा है। मेड से लेकर मालकिन तक को थप्पड़ के प्रहार से गुज़रना पड़ता है। यहीं पर आकर फिल्म कालबोध की परिधि से पार हो जाती है क्योंकि घरेलू हिंसा केवल हिंदुस्तानी समाज में नहीं है, यह देशकाल से परे है। विकासशील और विकसित देश में भी है। गाँव में और महानगर में भी है। इस लिहाज़ से बदलाव इसके मूल में है। मामूली-सी बात पर परिवार के टूटने की यह कहानी तो है लेकिन यह मामूली-सी बात का कर्त्तव्यबोध ही किसी परिवार की एकजुटता की मज़बूत डोर भी है।

वास्तविक ज़िंदगी की कहानी किसे प्रभावित नहीं करती! इस लिहाज़ से नोबेल शांति पुरस्कार विजेता मलाला यूसुफ़ज़ई के जीवन की प्रमुख घटनाओं से प्रेरित फिल्म 'गुल मकई' समाज को उचित दिशानिर्देश देती है। फिल्म में अध्ययन व शांति संदेश प्रमुख तत्व हैं और जिजीविषा इसकी आधारभूमि है। स्त्री यहाँ भी केंद्र में है जिसकी ज़िंदगी परिवार और समाज को समर्पित है। एक स्त्री के हौसले और हिम्मत की बानगी। पूरी दुनिया की लड़कियों को पढ़ने, जीने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाली एक ज़िंदादिल ज़िंदगी।

उल्लेखनीय है कि सिनेमा के पर्दे पर साहसी स्त्री महज़ एक आदर्श कल्पना नहीं है। हाल की ये कुछ फ़िल्में इसी बात की तरफ़ इशारा करती हैं। इस आलेख में सिनेमा में जिस परिवार के पुन: आगमन को फ़ोकस किया जा रहा है उस पारिवारिकता की एक प्रखर बानगी 'मर्दानी-2' फ़िल्म में प्रमुखता से उभर कर सामने आई थी। परिवार बच्चों की पहली पाठशाला है। माता-पिता पहले गुरु। निर्भयाओं की दुर्दांत कहानियों से संवेदनहीन हो चुके समाज में यह फिल्म सवाल उठाती है कि परिवार की पहली ज़िम्मेदारी औलाद की मुकम्मल परवरिश है। बेहतर परवरिश से किसी भी चरित्र को दुराचारी होने से बचाया जा सकता है जिसका असर पूरे समाज पर पड़ता है। समाज में महिलाओं से जुड़े अपराधों पर लगाम लगाया जा सकता है। फ़िल्म किसी भी परिवार की इसी ज़िम्मेदारी को फ़ोकस करती है। फ़िल्म में दिखाई गई यह सोच इसे अन्य फ़िल्मों से अलग बनाती है।

ज़ाहिर है सिनेमा का ये युगबोध हमें आशान्वित करता है। सिनेमाघरों में फिर से परिवार की वापसी कराता है। यही नए सिनेमा का नया सौंदर्यबोध है जहाँ कर्त्तव्यबोध का संदेश सर्वोपरि है। ❑

● कहानी



अम्मा

राजनारायण बोहरे

दिनभर की भाग-दौड़ से थका हुआ मैं ग्वालियर से लौटने के लिए स्टेशन पहुँचा तो टिकट खिड़की के सामने लंबी लाइन देख कलेजा मुँह को आ गया, आदतन मेरे मुँह से निकला- हाय अम्मा! हर विपत्ति और परेशानी में मुझे माँ जाने क्यों याद आती है। झुँझलाहट हुई कि काम-काज की व्यस्तता में मुझे यह भी ध्यान न रहा कि दिनभर जब मैं महाराज बाड़े पर था, तब वहीं के रेलवे टिकट ऑफ़िस से कार्डबोर्ड वाले पुराने प्रकार के जो टिकट मिलते हैं वही ख़रीद लेता, तो यहाँ टिकट खिड़की के सामने लगी इस लंबी पंक्ति के झंझट से भी बच जाता, इससे भी कि विक्रय का समय भी उस टिकट पर न छपा होता। इन कंप्यूटर जनित टिकटों पर तो विक्रय का समय भी अंकित होता है। मन-ही-मन कोफ़्त महसूस करता मैं लाइन के आख़िरी छोर पर खड़ा हो गया। हाथ का भारी झोला मैंने पाँव के पास रख लिया।



हमेशा की तरह मैंने अपने आगे खड़े आदमियों की गिनती शुरू कर दी जिससे पता लग सके कि मेरा नंबर कौन-सा है। कुल चालीस लोग मेरे आगे थे। चालीस यानि कि कम-से-कम चालीस मिनट। आदतन मैंने दूसरी टिकट खिड़कियों के सामने खड़े लोगों की गिनती आरंभ की। यह जानकर मुझे शांति मिली कि हरेक खिड़की पर चालीस से ज़्यादा ही लोग थे। इस स्टेशन की एक बात और चुभती है मुझे कि यहाँ महिलाओं के लिए अलग से कोई खिड़की नहीं है। खिड़की न हो न सही, कम-से-कम अलग पंक्ति तो होना चाहिए, वह भी नहीं रखी जाती। यहाँ तो महिलाएँ भी उसी पंक्ति में जिसमें पुरुष खड़े होते हैं, अब पुरुष तो हर उम्र के होते हैं और हर प्रवृत्ति के भी। मेरे बाद एक के पीछे एक दो लोग आकर खड़े हो गए तो मुझे अनकहा सुख मिला। आगे से भी पाँच आदमी टिकट लेकर पंक्ति से बाहर निकल चुके थे सो अब मैं कुछ राहत में था। बस अब कुछ ही मिनटों की देर है, मैंने सोचा।

इसी तनाव और झुँझलाहट में डूबा खड़ा था कि एकाएक अरुण दिखा मुझे। अरुण मेरा सहपाठी रहा है।

उसने मुझे देख लिया था और वह मेरी ओर लपकता चला आ रहा था।

'हलो' की आवाज़ के साथ हमारे हाथ मिले, आँखें मिलीं और हम मुस्कुरा उठे।

"तुम यहाँ कैसे"? मैने पूछा।

"दुकान के काम से आया था। कुछ माल ख़रीदना था। यहाँ भी माल नहीं मिला। सो दिल्ली जा रहा हूँ।" छोटे-छोटे वाक्यों में अरुण ने जवाब दिया। फिर अचानक पूछा, "तुम्हें अम्मा की ख़बर मिली"?

"अम्मा की ख़बर?", मेरे सीने में हौल उठा।

"हाँ यार, तुम्हारे चाचाजी का लड़का मिला था, उदास था। पूछा तो कहने लगा, 'अम्मा बीमार हैं।"

"क्या कुछ ज़्यादा तबियत..." डूबते मन से मैंने अधूरा प्रश्न किया।

"हाँ, सीरियस बता रहा था। मैं देखूँ यार उस खिड़की पर छोटी लाइन है। टिकट ले लूँ।" कहता वह मेरे पास से खिसक गया। मेरा तो खड़ा रहना मुहाल हो गया था।

जैसे-तैसे टिकट लिया। प्लेटफ़ॉर्म पहुँचा तो देखा, गाड़ी तैयार थी। पिछले कंपार्टमेंट में प्रवेश करके मैंने ख़ाली जगह देख कर सामान रखा और उतर कर पानी पी आने का सोच ही रहा था कि गार्ड की सीटी गूँज उठी। मैं अपनी ही जगह बैठा रह गया। गार्ड को मेरी ही प्रतीक्षा थी जैसे।

गाड़ी ने घंटाभर में मुझे ठिकाने तक पहुँचा दिया। स्टेशन के बाहर बने स्टैंड से स्कूटर उठाते वक़्त तक मेरा सिर दर्द करने लगा था। घंटेभर में सौ दफ़ा मैंने इस सवाल का उत्तर खोजने की कोशिश की थी कि अम्मा सीरियस हैं तो मुझे घर से कोई सूचना क्यों नहीं मिली। यहाँ मेरे पास घर पर टेलीफ़ोन है, उधर घर में

संपर्क : मो. 9826689939, ई-मेल : raj.bohare@gmail.com

भी टेलीफ़ोन लगा है और अब तो फ़ोन भी सीधा डायल करने पर पूरे मध्य प्रदेश में लोकल कॉल लगता है, एसटीडी का झंझट ही नहीं है, फिर भी।

अरुण झूठ तो नहीं बोल रहा था कि बात करने को कोई विषय नहीं मिला तो अम्मा की बात छेड़ दी हो। मेरे मस्तिष्क में एक बार यह विचार भी शक की तरह कुलबुलाया। फिर तुरंत ही 'वो झूठ काहे को बोलेगा' के ज़वाबी दावे ने मेरे शक को बेबुनियाद क़रार दिया।

घर पहुँच कर अरुण की बताई बात पत्नी को बताई तो वह भी गंभीर हो गई। बच्चों ने सुना तो दोनों एक साथ बोल उठे 'चलो पापा घर चलते हैं।"

मैं दिनभर का थका-हारा था। बदन का पोर-पोर टूट रहा था। बच्चों के प्रस्ताव पर पत्नी भी सहमत दिख रही थी, क्योंकि उसने तो उठकर चुपचाप अटैची जमाना शुरू कर दिया था।

एकाएक मुझे याद आया तो मैंने फोन अपनी तरफ़ खींचा और अपने क़स्बे का ग्रुप डायलिंग कोड लगा कर घर का नंबर भी डायल कर दिया। कंप्यूटर की यांत्रिक आवाज़ हिन्दी और अंग्रेज़ी में बार-बार एक ही वाक्य दोहराने लगी कि यह लाइन अभी ख़राब है, कृपया कुछ देर बाद डायल करें।

आधा घंटा फ़ोन से लगातार जूझता रहा मैं। बीच में एक पब्लिक कॉल ऑफ़िस वाले ऑपरेटर से निवेदन किया कि वह किसी तरह बात करा दे तो अनेक प्रयास करने के बाद वह भी बोला कि "सॉरी सर, लगता है वहाँ की लाइन फ़ेल है।"

पत्नी के अटैची जमाने में ज़्यादा वक़्त नहीं लगता। उसका काम निपट चुका था। बस मेरे संकेत की प्रतीक्षा थी। मैं इशारा करता और वे तीनों जैसे थे उसी हालत में निकलने को तैयार थे।

मैं घर के लिए निकलने में बड़ा फुर्तीला रहा हूँ लकिन आज तो मन में एक अजीब-सी हिचकिचाहट थी। मन में एक अजीब भय-सा बैठा था। न कुछ निर्णय कर पा रहा था न ज़्यादा सोच विचार। अपनी इस भीतरी क़मज़ोरी पर चकित तो था, पर इसे दूर करने का कोई यत्न नहीं कर पा रहा था, बस चुप बैठा था।

जब से सुना है रह-रह अम्मा का चेहरा आँखों के आगे आ जाता है। ताज्जुब है कि ऐसा क्या हुआ कि अम्मा अचानक बीमार हो गईं, जबकि हम सब कहते हैं कि अम्मा तो अमर फल खाकर आई हैं। हाँ पहले पति, फिर भाई और अभी दो साल पहले दामाद की तीन जवान मौतें देख लीं अम्मा ने लेकिन पिच्चासी साल की उम्र में भी अम्मा को कभी कुछ नहीं हुआ।

जब क़स्बे में पढ़ाई पूरी हुई तो अचानक तहसील कार्यालय में लिपिक पद पर मेरा जॉब लग गया। जॉब लगते ही हर एक तारीख़ को मेरे हाथ में तनख़्वाह के करारे नोट आने लगे तो मेरा आत्म-विश्वास ही नहीं जागा, एक अजीब-सा ग़ुरूर भी भर गया। अपनी आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा मैं अम्मा के पास भेज देता था कि पिता की मृत्यु के बाद जो घर पर अभाव और मुफ़लिसी का साया छा गया था वह कुछ कम हो। मेरे भेजे पैसे अम्मा पूरा का पूरा बैंक में जमा करती रहीं, घर का ख़र्च वही पुरानी फ़ैमिली पेंशन से चलता रहा। वही छह आदमियों के लिए केवल सुबह के सुबह आधा किलो दूध आता था, वही महीने का एक किलो घी और वही एक किलो शक्कर, दो सौ ग्राम चाय पत्ती, पाव भर खाने का तेल और राशन का थोड़ा-सा दीगर सामान। न तो घर में रोज़ सब्ज़ी आती थी न ही महीने के आख़िरी दिनों में ख़त्म होने वाले राशन में से ख़त्म हो चुकी वस्तुएँ ख़रीदी जाती थीं। ऐसे में अगर मेरा घर जाना हो जाए तो चाय में बजाय शक्कर के गुड़ मिलता था और चाय की हालत तो यह होती थी कि दुनियाभर में बदनाम बीना रेलवे स्टेशन की चाय भी उस चाय में अच्छी लगती होगी। मैं अम्मा को इस कंजूसी के लिए कुछ कहता तो वह कहतीं कि हम पर रौब मत झाड़ो, बच्चे बनके रहो, बाप मत बनो, छोटी-सी नौकरी मिल गई तो बड़े आदमी हो गए क्या, आज दो पैसा मिले तो आज ही ख़र्च कर दोगे क्या, कल को हारी-बीमारी आ गई या कहीं कोई ख़र्च आ गया तो कहाँ से पुरता करोगे। तुम तो वो करते हो 'कै घेलिया में नाज तो नो सैरनी को राज', इस काजे ऐंठा मत करो। दो पैसे कमाने लगे तो माई-बाप को ही डाँटोगे, तुम्हारा रुपया बैंक में धर रखा है, निकाल लो। क्या खाने-पीने पर ख़र्च को सबसे ज़रूरी मानते हो, कैसे भी दिन काट लो, कुछ भी खा लो, सारा खाया-पिया पेट के रास्ते बाहर निकल जाता है, लेकिन वक्त-ज़रूरत घर में रखा रुपया ही काम आता है। कल कोई ज़रूरत पड़ी और किसी से कर्ज़ लेना पडा़ तो सारी इज़्ज़त निकल जाएगी।

कुछ दिन तो मन मार के अम्मा की बात सुनता रहा फिर ऐसा हुआ कि रोज़ का होटल का खाना और किराए का सजा हुआ मकान मिल गया तो मुझे आराम से रहने की आदत पड़ गई और मैं येन केन प्रकारेण घर जाने की टालने लगा।

मैं पिछले वर्षों से अम्मा से नाराज़ हूँ। घर जाता हूँ तो प्राय: ठीक से बात भी नहीं करता। अम्मा को यह पता है लेकिन वे मेरे लिए खाने-पीने की व्यवस्था से लेकर ओढ़ने-बिछाने के विस्तर तक की व्यवस्था में खुद जुटी रहती है। मैं मना करता हूँ पर वे नहीं मानतीं। इसके बाद जब मौक़ा पाता हूँ कुछ खरी-खोटी सुना ही देता हूँ। अम्मा सूनी और गहरी आँखों से देखती रह जाती हैं मेरी तरफ़, मैं जान-बूझ कर उन आँखों के भाव नहीं पढ़ता। रूखा बना रहता हूँ। मुझे लगता है कि घर की सारी अशांति और विखंडन के पीछे अम्मा का पक्षपात पूर्ण व्यवहार है। अम्मा का निरक्षर होना और अपने को बहुत होशियार समझना मेरी नज़र में सारे फ़साद का एक बहुत बड़ा कारण है।

कुछ ऐसे निर्णय अम्मा लंबे समय से टालती आ रही हैं, जो मैं सालों पहले करा देना चाहता था। इस टालमटोल का परिणाम है कि खुद भी दुखी रहती हैं और पूरे घर को दुखी बनाए रखती हैं।

याद आया तो अम्मा के प्रति अब तक उमड़ती श्रद्धा तिरोहित-सी होती नज़र आई। पत्नी से बोला, "अब रात में कहाँ जाएँगे। ऐसा करते हैं कि पहले टेलीफ़ोन लगाने की कोशिश करते हैं यदि ख़बर सच्ची है तो सुबह निकल चलेंगे।"

पत्नी और बच्चे अनमने से सहमत हो गए।

मेरी पूरी रात नींद और जाग के बीच की तंद्रा की स्थिति में कटी। हर बार मैंने जो सपना देखा उसमें अम्मा को मृत्यु-शैय्या पर देखा। एक बार तो अम्मा का सूना बिस्तर और घर भर को रोता हुआ देखा मैंने। उठ कर बैठ गया और एक बार फिर टेलीफोन लगाने का यतन किया पर असफल रहा। मुझे लग रहा था कि अम्मा का मेरे प्रति सदा ही सबसे ज्यादा स्नेह रहा जिसे मैं महसूस नहीं कर पाया। अब वे बीमार हैं तो शायद उन्होंने ही मना कर दिया हो कि रहने दो उस नपूते को ख़बर मत करो, सदा ही मुझसे लड़ता आया है। मुझे लगा मैं हिचकी भर के रो उठूँगा अभी, पर किसी तरह से खुद को जबर किया।

पृष्ठ 51 पर जारी...

● संस्मरण



कुल्लू, नग्गर और देविका रानी

राजेंद्र राजन

ज़हन में देविका रानी की बहुत-सी छवियाँ हैं। 20 अप्रैल 1993 का वो खुशनुमा-सा दिन। हिमाचल टूरिज़्म में सनबीम होटल के गोल कोर्टयार्ड में व्हीलचेयर पर उदास-सी बैठी देविका। 1931 से 1945 के मध्य बॉम्बे टाकीज़ की लीडिंग हीरोइन को हड्डियों के माँसपिंड में देखना एक तिलिस्म के टूटने जैसा था। हतप्रभ-सा मैं देविका को लाल बार्डर वाली झिलमिल करती बनारसी सिल्क साड़ी में देख रहा था। बंगलुरू से कुल्लू उनके साथ हवाई जहाज़ से आई सेक्रेटरी पूनाचा और दो परिचारिकाएँ उनके साथ थीं।

देविका रानी बेहद कमज़ोर निस्तेज-सी लग रही थीं। बात करना भी मुश्किल था। शरीर में स्पंदन नाममात्र। उन्हें ख़ास मक़सद से बंगलुरू से कुल्लू बुलाया गया था। रूस और भारत की सरकारें नग्गर में देविका के पति स्वेतोस्लॉव व उनके ससुर निकोलाई रोरिक की बेपनाह खूबसूरत व बहुमूल्य प्रॉपर्टी यानी हॉल एस्टेट को 'इंटरनेशनल रोरिक मेमोरियल ट्रस्ट' में बदलना चाहती थीं। ट्रस्ट डीड पर देविका रानी के हस्ताक्षर ज़रूरी थे। जब देविका ने ट्रस्ट डीड के काग़ज़ात पर हस्ताक्षर करने चाहे तो उनकी उंगलियाँ निस्तेज-सी हो चुकी थीं। उस वक़्त हिमाचल में शांता कुमार की सरकार को बर्ख़ास्त कर दिया गया था और राष्ट्रपति शासन था। राज्यपाल के सलाहकार पी.पी. श्रीवास्तव और रूसी महानुभावों ने संयुक्त रूप से ट्रस्ट डीड को अंतिम रूप दिया था। उस होटल के लिविंग रूम में सोफ़े पर बैठी देविका से पी.पी. श्रीवास्तव ने 'जबरन' हस्ताक्षर करवाए थे। समारोह में उपस्थित अधिकारियों व अन्य को एक पल के लिए लगा मानो देविका रानी से जबरन उनकी प्रॉपर्टी छीनी जा रही हो लेकिन यह सच नहीं था।



देविका रानी की जर्जर काया और उन्हें घेरे वीआईपी, पर्यटकों के कौतूहल व जिज्ञासा बने हुए थे। पुरानी पीढ़ी के लोग पुरानी फिल्मों के दीवानों को जब पता चलता है कि वे देविका रानी को देख रहे हैं तो झट से उनके पास आकर फोटो खिँचवाते और उनके पाँव छूते। वो आकर्षक व भावपूर्ण मंज़र आज भी 26 साल के बाद मेरी आँखों के समक्ष ताज़ा हो उठता है।

कुल्लू के लिए देविका रानी की वह अंतिम यात्रा थी। हालांकि ज़िलाधीश जीवानंद जीवन मुझे एक दिन पूर्व ही बोलती फिल्मों की पहली सिने तारिका के कुल्लू दौरे की इत्तिला दे चुके थे, ऐनवक़्त पर मैं भुंतर एयरपोर्ट पर उनकी अगवानी के लिए नहीं पहुँच पाया। उन दिनों मैं कुल्लू में ज़िला लोक संपर्क अधिकारी के पद पर तैनात था।

बहरहाल, जीवानंद जीवन मेरी इस नाफ़रमानी को नज़रअंदाज़ कर बोले, "यू हैव मिस्ड द बस। देविका रानी जैसी सैलीब्रिटी को एयरपोर्ट पर रिसीव करना ऐसा रोमांचक अनुभव है जिसे हम ताउम्र भुला नहीं पाते। ख़ैर कोई बात नहीं, जब तक देविका रानी कुल्लू और नग्गर में हैं, तुम बतौर लायॅज़न ऑफ़िसर उनके साथ रहोगे।"

मेरी खुशी का ठिकाना न था। चलो इसी बहाने देविका रानी को करीब से जानने का मौक़ा मिलेगा। वे पतझड़ की बेला में थीं। पचासी पार कर चुकी थीं और उनकी कमोबेश सभी शारीरिक इन्द्रियाँ क्षीण पड़ चुकी थीं। चलने-फिरने में नाकाम। उस पर बमुश्किल बातचीत कर पाती थीं। बंगलुरू से उनके साथ आईं दो परिचारिकाएँ उन्हें व्हीलचेयर पर बिठाती थीं। लंबी चुप्पी के उपरांत जब मशक्कत से उनके कंठ से टूटे-फूटे शब्द फूटते तो उनके आसपास मँडराते लोग उन्हें ग़ौर से सुनने का प्रयास करते।

उम्रदराज़ देविका को देखना, सुनना और उनकी उपस्थिति को अंतर्मन में घटित होते हुए अनुभव करना। सचमुच एक अनोखा, अविस्मरणीय मंज़र था। कुल्लू के आलीशान 'सनबीम' होटल के हरे-भरे प्रांगण में दोपहर बाद जब मैंने देविका रानी से भेंट की तो वे मुझे तरोताज़ा दिखीं। सजी-सँवरी। लाल व सफ़ेद रंग की साड़ी उनकी देह पर फब रही थी। माथे पर लाल रंग

संपर्क : मो. 8219158269, ई-मेल : rajenhmr@gmail.com



की बिंदी। होठों पर लाल लिपिस्टिक। मेकअप ऐसा मानो पलक झपकते ही कोई फिल्म निदेशक आकर उनसे कहेगा, "मैडम शॉट इज़ रेडी।"

फिल्मों में अभिनेत्रियों को जिस लबालब ग्लैमर से लबरेज़ कर प्रस्तुत किया जाता है, उसकी एक ख़ास छवि या बिंब दर्शक के ज़हन में सालोंसाल यथावत बने रहते हैं। दर्शक या सिने प्रेमी भले ही बूढ़ा हो जाए, वह अपने भीतर बसी हीरोइन की इमेज से कभी मुक्त नहीं हो पाता। अगर वह कहीं ग़लती से भी अपनी सुंदर कमसिन हीरोइन को बुढ़िया के रूप में देख ले तो उसपर वज्रपात होना स्वाभाविक-सा है। यही सिनेमा व सिने-तारिकाओं के अभिनय की ताक़त है।

देविका रानी ने 1930 व 1945 के छोटे-से कालखंड के दौरान जिन दर्जनभर फिल्मों में बतौर हीरोइन भूमिकाएँ निभाई थीं उनके अक्स मेरे मानसपटल पर अंकित थे। अशोक कुमार के साथ बग़ीचे में दरख़्तों की शाखाओं से लिपटकर गीत गाती देविका रानी, 'मैं बन-बन डोलूँ रे....' को कौन भुला सकता है! आज भले ही सिनेमा के सौ बरस के इतिहास को पलटने के बाद उस दौर की फिल्मों के दृश्य कभी-कभी तो हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। युवा पीढ़ी तो उन्हें देखकर नाक-भौं सिकोड़ना शुरू कर देती है। मेरे साथ भी यही हुआ। ज़िंदगी के नवें दशक में साँस लेतीं देविका रानी के चेहरे की गहरी, स्याह झुर्रियों को देखकर 1935 के आसपास की उनकी फिल्मों की छवि ध्वस्त हो गई। क्या यही देविका रानी हैं?

देविका रानी का जन्म 30 मार्च, 1908 को एक एंग्लो-इंडियन परिवार में चेन्नई के वाल्टियर में हुआ था। उनकी माता का नाम लीला चौधरी और पिता का कर्नल एम.एन. चौधरी था। कर्नल चौधरी को प्रथम 'इंडियन सर्जन जनरल' का ख़िताब हासिल था। शर्मिला टैगोर की तरह ही देविका रानी रवींद्रनाथ ठाकुर की पड़भतीजी थीं। टैगोर ने बचपन में ही देविका रानी को 'बड इन सनशाइन' बताया था। देविका के पिता ने बचपन में ही उन्हें स्वावलंबी होने का पाठ पढ़ाया था। उन्होंने कहा था, "एक औरत को अपनी देखभाल करने के लिए स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए।" 18 वर्ष की आयु में ही देविका रानी लंदन के एक अग्रणी आर्ट स्टूडियो में बतौर टैक्सटाइल डिज़ाइनर के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुकी थीं। अल्पायु में ही स्वावलंबी बनकर उन्होंने अपने पिता की सीख को चरितार्थ कर दिया था।

देविका रानी ने 1934 में हिमांशु राय के साथ 25 लाख रुपये की लागत से बॉम्बे टाकीज़ लिमिटेड स्टूडियो की स्थापना की थी। 1945 में देविका रानी ने जब स्वेतोस्लॉव रोरिक से विवाह कर लिया तो बतौर अभिनेत्री अपने कैरियर के चरम पर उन्होंने अभिनय छोड़ दिया। उनकी कुछ उल्लेखनीय फिल्मों में 'कर्मा' (1933), 'जवानी की हवा' (1935), 'जीवन नैय्या' (1936), 'जन्मभूमि' (1936), 'अछूत कन्या' (1936), 'इज़्ज़त' (1937), 'जीवन प्रभात' (1937), 'वचन' (1938), 'निर्मला' (1938), 'दुर्गा' (1939) तथा 'अन्जान' (1941) प्रमुख हैं।

कई सालों के बाद देविका रानी कुल्लू में अंतरराष्ट्रीय रोरिक मेमोरियल ट्रस्ट की स्थापना के सिलसिले में तशरीफ़ लाई थीं। कुल्लू से कोई पच्चीस किलोमीटर दूर स्थित रोरिक आर्ट गैलरी और लंबे-चौड़े हॉल एस्टेट की करोड़ों की संपदा के रखरखाव व संवर्द्धन के लिए लाज़मी था कि उसका सुव्यवस्थित संचालन हो। इसके लिए उसे संस्था का रूप देने पर गत कई वर्षों से मनन हो रहा था। देविका रानी के ससुर व नग्गर आर्ट गैलरी के संस्थापक महान चित्रकार निकोलाई रोरिक तो 1947 में ही विदा हो चुके थे। रोरिक की पत्नी हैलिना व उनके छोटे पुत्र जार्ज रोरिक रूस में बस चुके थे और अब जीवित नहीं थे। बॉम्बे टाकीज़ के संस्थापक हिमांशु राय की 1940 में मृत्यु के बाद 1943 में देविका रानी स्वेतोस्लॉव रोरिक से परिणय सूत्र में बँधी थीं। स्वेतोस्लॉव के साथ उनकी ज़िंदगी का ज़्यादातर हिस्सा बंगलुरू स्थित टाटागुनी एस्टेट में बीता, परंतु नग्गर के भव्य हॉल एस्टेट को वे कभी विस्मृत नहीं कर पाईं। 1993 में भारत सरकार और रूसी सरकार की साँझी कोशिशों से देविका रानी ने स्वेतोस्लॉव रोरिक को नग्गर हॉल एस्टेट की अमूल्य धरोहर को ट्रस्ट के सुपुर्द करने के लिए प्रेरित किया। वे इस पुनीत कार्य के वास्ते राज़ी हुईं और न्यास के क़ानूनी दस्तावेज़ों पर दस्तख़त करने के लिए कुल्लू पहुँचीं। वैसे जिस जुनून से देविका व उनके पति स्वेतोस्लॉव ने तकरीबन 60 साल तक रोरिक कला दीर्घा व हॉल एस्टेट को बेशकीमती संपदा से सींचा, उसकी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित सांस्कृतिक केंद्र के रूप में स्थापना ज़रूरी थी।

हॉल एस्टेट की पहली मंज़िल पर स्वेतोस्लॉव व देविका का साज़ो-सामान, कलाकृतियाँ, फ़र्नीचर, पुस्तकें या फिर उनके बेडरूम को जिस एहतियात के साथ सुरुचिपूर्ण ढंग से सहेजा गया है उसके दृष्टिगत यह एस्टेट संग्रहालय के रूप में परिवर्तित हो चुका है। हॉल एस्टेट के धरातल पर तीन बड़े कमरों में निकोलाई रोरिक के तैलचित्र तो कई दशकों से पूर्ववत् सुसज्जित हैं। उत्तरोत्तर कला दीर्घा का रंग-रूप निखरता चला गया है। हाल के वर्षों में हॉल एस्टेट के समीप ही देविका रानी और स्वेतोस्लॉव रोरिक की स्मृति में एक अलग व लघु कला दीर्घा विकसित की गई है। इस आर्ट गैलरी में देविका रानी का पीली साड़ी में प्रदर्शित तैलचित्र ख़ास-तौर पर कलाप्रेमियों व सैलानियों का ध्यान खींचता है। इसकी रचना उनके पति स्वेतोस्लॉव ने की थी।

उस रोज़ होटल सनबीम के ऊँचे लॉन में स्टील की जालीदार कुर्सियों पर हम बैठे थे। अप्रैल में कुल्लू में तीखी धूप अपने पैर जमाना शुरू कर देती है। तपिश से बचाव के वास्ते देविका रानी के लिए ऊँची रंग-बिरंगी छतरी लगाई गई थी। सहसा देविका रानी को सिगरेट की तलब महसूस हुई। उनकी एक युवा परिचारिका ने बग़ैर फ़िलटर वाली सिगरेट देविका के होठों पर फँसा दी। मुझे लगा उनके कमज़ोर होठों से वह सिगरेट कभी भी फिसल कर गिर सकती है लेकिन ऐसा नहीं हुआ। ग़ालिबन देविका ने मेरी ओर इशारा करते हुए पूछा, "आर यू ए जर्नलिस्ट?" "नो मैडम। आई एम पीआरओ इन स्टेट गवर्नमेंट।" देविका ने परिचारिका को

अपने होठों से सिगरेट हटाने का संकेत दिया। मैं यह सोचकर खुश था कि देविका ने मुझमें दिलचस्पी ज़ाहिर की थी। "ओह यू आर पीआरओ। दैट्स वैरी गुड।" "यस मैम बट आई कीप ऑन राइटिंग आलसो लाइक ऐन एक्टिव जर्नलिस्ट।"

देविका रानी के होठों पर हल्की-सी मुस्कान उभरी। आग्रहवश पूछ बैठीं, "कुड यू प्लीज़ लिट माई सिगरेट?" "ओह वाय नॉट। इट्स ए ग्रेट प्लेज़र।" मेज़ पर रखे लाइटर से मैंने उनकी सिगरेट जलाई। फिर उन्होंने लंबी चुप्पी साध ली। खुदा जाने किस सोच-विचार में डूबी रहीं। मैं स्वयं को खुशनसीब मान रहा था कि मुझे अपने ज़माने की मशहूर अदाकारा की सिगरेट सुलगाने का मौक़ा मिला था। ये पँक्ति लिखते हुए मेरी आँखों के समक्ष देविका रानी की बूढ़ी काया तैरने लगती है।

रोरिक ट्रस्ट के दस्तावेज़ों पर दस्तख़त हो चुके थे। न्यास के गठन की ख़बरें देश-विदेश के मीडिया में सुर्ख़ियाँ बन रही थीं। भारतवर्ष के कलाकारों व कलाप्रेमियों के लिए तो यह सुखद समाचार किसी आश्चर्य से कम नहीं था, रूस के लोग और वहाँ की सरकार विशेष रूप से उत्साहित थी। ऐसा आभास मुझे नग्गर में रूसी एम्बेसडर के और उनके साथ आए सहयोगियों और नवगठित न्यास के सदस्यों से वार्तालाप के उपरांत हुआ।



तीसरे दिन जब हम नग्गर में थे तो समूचा नग्गर गाँव देविका रानी के दर्शनों के लिए उमड़ पड़ा। अप्रैल के महीने में यूँ भी कुल्लू-मनाली में सैलानियों का ताँता लगा रहता है। हॉल एस्टेट में उत्सव का वातावरण था। कला दीर्घा के अवलोकन के साथ-साथ देविका रानी को देखना पर्यटकों को विस्मित कर रहा था। हर कोई पूछ रहा था, "अरे क्या यही देविका रानी हैं?" उनकी बूढ़ी काया को देखकर कोई भी विश्वास नहीं कर पा रहा था कि यही वो सेलीब्रिटी हैं जो सही मायने में हिन्दी फिल्मों की आधारशिला बनी थीं। उस वक़्त देविका रानी के रंग-रूप, लावण्य ने देश के करोड़ों दर्शकों का ही दिल नहीं जीता था, विदेशी फिल्मों के निर्देशकों की भी वे चहेती अदाकारा बन चुकी थीं।

देविका रानी को इस बात का इल्म हो गया था कि कुल्लू व नग्गर की वह उनकी आख़िरी यात्रा है। उनकी आँखों की चमक, मंद-मंद मुस्कान, देहभाषा सब मिल-जुलकर संप्रेषित कर रहे थे कि उन्हें हॉल एस्टेट के गोशे-गोशे से आज भी बेइन्तहा मुहब्बत है। करीब 60 सालों से उस लकड़ी से निर्मित सफ़ेद बंगले के प्रत्येक कमरे में देविका रानी और उनके पति स्वेतोस्लॉव के साथ-साथ उनके ससुर निकोलाई रोरिक की हरेक वस्तु व कलाकृतियाँ सहेज कर रखी हुई थीं। चंद दिनों की उस यात्रा के दौरान देविका रानी ने कई दफ़ा अपने सोने के कमरों, बैठक, स्टडी, स्वेतोस्लॉव के पेंटिंग रूम को देखने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की थी। हॉल स्टेट का हरेक गोशा देविका के अंतस में फूलों की सुगंध-सा बसा हुआ था। उनकी आँखें बतिया रही हों जैसे 'मोह बिसरत नहीं ब्रज माधो'। जिजीविषा की रोशनी से जुदा होना सचमुच बेहद कष्टप्रद होता है।

हॉल एस्टेट का निर्माण 1880 में कर्नल रैनिक ने करवाया था। बीसवीं सदी के आरंभ में उन्होंने इसे मंडी रियासत के राजा को बेच दिया। 1925 में जब निकोलाई रोरिक कुल्लू आए तो नग्गर की इस अत्यंत मनमोहक इमारत और इसके इर्द-गिर्द मीलों दूर तक बिछी बेपनाह हरियाली को देखकर मंत्रमुग्ध रह गए। उन्होंने तुरंत इसे मंडी के राजा से ख़रीद लिया और यहीं बस गए। अनेक देशों के संग्रहालय में रोरिक के जो चित्र प्रदर्शित हैं उनकी रचना उन्होंने नग्गर की इसी कर्मस्थली में की थी। वास्तव में नग्गर के हॉल एस्टेट से देवदारों के घने बीहड़ के बीचो-बीच से व्यास नदी के बाएँ तट पर धान के खेतों में जिन भूदृश्यों को विस्तार मिला है, वैसा लैंडस्केप कम-से-कम भारतवर्ष के पर्वतीय प्रांतों में देखने को नहीं मिलता। अगर रोरिक यहाँ न बसे होते तो शायद नग्गर को विश्व स्तर पर, वह ख्याति प्राप्त न होती जिसका वह आज हक़दार है।

मुझे याद है देविका रानी ने बड़े चाव से हमारी टीम के सदस्यों को अपना बेडरूम दिखाया था, फिर खाना खाने की बड़ी-सी गोल मेज़, "सी दिस इज़ माई डायनिंग टेबल। मी एंड स्वेतोस्लॉव यूज़्ड टू हैव अवर ब्रेकफ़ास्ट हियर।" सच अगर उन क्षणों में स्वेतोस्लॉव उनके साथ होते तो देविका की खुशी में चार-चाँद लग जाते लेकिन उनका तो तीन महीने से भी कम समय पूर्व 30 जनवरी, 1993 को देहावसान हो चुका था। कुल्लू-नग्गर के दौरे के दौरान देविका का ग़मगीन-सा बने रहने की एक वजह शायद यह भी थी। पति का विछोह कौन सहन कर सकता है!

देविका काफ़ी देर तक हॉल एस्टेट के उन बड़े ऊँचे कमरों में बहुमूल्य किताबों, हस्तशिल्प के सजावटी सामान, ग़लीचे, मेज़ कुर्सियों को हसरत भरी नज़रों से निहारती रही थीं। फिर कला दीर्घा के सामने बड़े से हरे-भरे आँगन में बैठी रहीं। हॉल एस्टेट के प्रवेश द्वार पर हरसिंगार की झुकी-झुकी टहनियों को देखकर लगता है जैसे वे आगंतुकों को बाहों में भरने के लिए मचल रही हों। यहाँ फूलों की बेजोड़ प्रजातियाँ मौजूद हैं। छतनार लाइमट्री तो यहाँ की ख़ास पहचान है। इसे देविका व स्वेतोस्लॉव ने संयुक्त रूप से लगाया था। देविका रानी इस पेड़ के नीचे घंटों बैठी रहतीं। कहते हैं इस विशालकाय दरख़्त की छाँव के नीचे बैठने से हाई ब्लड प्रेशर के रोगी स्वस्थ हो जाते हैं। कहा जाता है कि लाइमट्री की छाँव में बैठना शुभ माना जाता है लेकिन मुझे ऐसी कहानियाँ महज़ वहम लगती हैं जिनका कोई आधार नहीं होता।

देविका रानी की आँखें भर आई थीं। उन्होंने ख़्वाहिश ज़ाहिर की कि उन्हें उनके ससुर की समाधि के पास ले जाया जाए। समाधि पर पुष्पगुच्छ अर्पित करने के बाद वे काफ़ी देर तक अकेली वहाँ व्हीलचेयर पर बैठी रहीं। निमग्न-सी। अक्सर अधूरी जानकारी के अभाव में लोगबाग देविका रानी को निकोलाई रोरिक की पत्नी मान बैठते हैं जबकि निकोलाई तो उनके ससुर थे। उनके बड़े बेटे स्वेतोस्लॉव स्वयं महान चित्रकार थे। स्वेतोस्लॉव के साथ बतौर अर्धांगिनी देविका ने छह दशक गुज़ारे थे।

कुल्लू में देविका रानी के साथ उनकी निजी सचिव पूनाचा भी आई थीं। करीब एक साल बाद देविका रानी के निधन के बाद बंगलुरु में उनकी प्रॉपर्टी को लेकर खूब हंगामा बरपाया। पूनाचा पर आरोप था कि वे देविका रानी और उनके पति की 400 एकड़ में फैली टाटागुनी एस्टेट को हथियाना चाहती थी लेकिन तत्कालीन कर्नाटक सरकार ने टाटागुनी एस्टेट को नियंत्रण में लेकर उसके रखरखाव का दायित्व स्वयं सँभाल लिया था।

देविका रानी ने नग्गर में अपनी मित्र और बाद के वर्षों में ट्रस्ट की प्रबंधक रहीं सिस्टर उर्सुला के साथ काफ़ी वक़्त बिताया था। नग्गर में ही 2004 में उर्सुला का निधन हुआ था। देविका रानी ने 9 मार्च, 1994 को बंगलुरू में अंतिम साँस ली थी। उनका कथन था, "भारतवर्ष बेहर सुंदर, प्रकृतिसंपन्न देश है। यहाँ के लोग बहुत प्यारे हैं। उत्तर से दक्षिण तक। मैं जब-जब रूस गई, वोल्गा को एक बड़ी नदी के रूप में देखा। अपने देश में जब गंगा को देखती हूँ तो वोल्गा और गंगा दोनों बहनों की तरह प्रतीत होती हैं। भारत और रूस के दरम्यान मैत्री की निरंतरता की प्रतीक हैं ये दोनों नदियाँ। इस मित्रता को कोई नहीं तोड़ सकता।"

ब्रिटिश लेखिका पैनेलोप चेटवुड को भी कुल्लू से बेहद प्यार था। अपनी चर्चित पुस्तक 'कुल्लू-दी एंड ऑफ़ द हैबिटेबल वर्ल्ड' में वे लिखती हैं, "अन्य हिन्दी सिने-तारिकाओं की तुलना में देविका रानी अत्यंत बुद्धिमान हैं। सांस्कृतिक चेतन से पगी हुई। अपने पति स्वेतोस्लॉव से मिलकर वे हॉल एस्टेट को हिमालयन आर्ट का केंद्र बनाने में व्यस्त हैं। देविका रानी हॉल एस्टेट के ऊपर देवदारों के घने जंगल में पहाड़ी लोक कला, मूर्तिकला, काष्ठ व पत्थर कला, देवताओं के मुखौटे, हस्तकला व हथकरघा की कलाकृतियों इत्यादि के संग्रहालय के निर्माण में जुटी हुई हैं।" पैनेलोप चेटवुड 1964 में नग्गर आई थीं और उन्होंने देविका रानी से भेंट की थीं। अपनी संस्मरणात्मक पुस्तक के एक अध्याय 'निकोलाई रोरिक' में वे लिखती हैं, "अपने 10 सालों के फिल्मी कॅरियर में 15 फिल्मों में अभिनय करने के उपरांत कला व संस्कृति के प्रति उनका लगाव और समझ चकित करते हैं। निस्संदेह नग्गर व हॉल एस्टेट के प्रति अपने अगाध भावनात्मक लगाव व जुनून के बलबूते वे नग्गर जैसे सोए हुए गाँव को अंतरराष्ट्रीय मानचित्र पर स्थापित करने में कामयाब रहीं।"

अपने देहांत से एक वर्ष पूर्व रोरिक आर्ट गैलरी और हॉल एस्टेट सौ बीघे से अधिक धरोहर को न्यास में परिवर्तित करने के स्वप्न को उन्होंने जीते जी साकार किया। जीवन संध्या की अंतिम बेला रोरिक ट्रस्ट के रूप में जो पौधा उन्होंने अपने हाथों से लगाया, उसे करीब दो दशक बाद पल्लवित होते हुए देखना चकित करता है। देविका रानी का 'हिमालयन आर्ट एंड क्राफ़्ट संग्रहालय' की स्थापना का स्वप्न साकार हुआ है। आज हॉल एस्टेट ही नहीं अपितु समस्त नग्गर कला व सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विकसित हो चुका है।

30 मार्च 1908 को विशाखापट्टनम में जन्मी देविका रानी सांस्कृतिक व साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध और संपन्न पृष्ठभूमि से ताल्लुक रखती थीं। यानी गुरुदेव के परिवार से। हिमांशु राय के साथ मिलकर देविका ने बोलती फिल्मों के पहले स्टूडियो की स्थापना मुंबई में की थी। उन्हें सिनेमा के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार दादासाहब फालके के अलावा पदमश्री व सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कारों से भी नवाज़ा गया था। वे 15 साल के अपने सिनेमा के सफ़र के दौरान भारतीय सिनेमा को विश्वपटल पर ले जाने में कामयाब रहीं। सन् 1942 में पहले पति हिमांशु राय की मृत्यु के पश्चात 1945 में देविका ने निकोलाई रोरिक के बड़े सुपुत्र स्वेतोस्लॉव रोरिक से विवाह किया और मनाली में आकर रहने लगीं। वे कुछ साल तक मनाली में रहीं और इन्होंने यहाँ रहकर कुछ डॉक्यूमेंट्री फिल्मों का निर्माण भी किया। मनाली में रहते हुए वे नेहरू, इंदिरा गाँधी से मिलीं और जल्द ही यह दोस्ताना ताल्लुक़ात घनिष्ठता में बदल गए। जब नेहरू और उनके परिवार को कुल्लू-मनाली आने का मौक़ा मिलता तो वह नग्गर में रोरिक आर्ट गैलरी में ज़रूर जाते।

रोरिक परिसर में समर स्टूडियो की स्थापना की गई है जो देविका रानी को समर्पित है। उनके पति द्वारा बनाया गया देविका का पोट्रेट यहाँ का एक बड़ा आकर्षण है। स्टूडियो में देविका व उनके पति के दुलर्भ चित्र प्रदर्शित किए गए हैं। देविका रानी की ज्वैलरी, टाइपराइटर, स्टेशनरी का सामान, बाइबल का एक छोटा-सा संस्करण जो देविका की माँ ने भेंट किया था, समर स्टूडियो की चुनिंदा बेशकीमती धरोहरों में शामिल है। खूब घने जंगल ख़ासकर लाइम के दरख़्तों के साए में बना यह स्टूडियो सैलानियों के आकर्षण का केंद्र है।

देविका ने 1948 में ही रोरिक आर्ट गैलरी के स्वप्न को साकार करने के लिए प्रयास शुरू कर दिए थे और 1961 और 1962 आते-आते यह स्थल पर्यटकों को लुभाने लगा था। 1964 में निकोलाई रोरिक के बायोग्राफ़र पवेल वैलकोव को लिखे पत्र में देविका लिखती हैं, "आपको यह जानकर खुशी होगी कि अब नग्गर गाँव से चढ़ाई चढ़ कर पर्यटक गैलरी में आने लगे हैं। 'गैस्ट बुक' में वे इस स्थान के बारे में चौंकाने वाली टिप्पणियाँ लिखकर जाते हैं जिन्हें पढ़कर मैं अभिभूत होती रहती हूँ।" रूस में रहने वाले पवेल को उसी साल एक अन्य ख़त में वे लिखती हैं, "ऐसे क्षणों में जब मैं गैलरी में बैठी सुदूर बर्फ़ से ढके मनमोहक पहाड़ों को निहार रही हूँ, मुझे लगता है मानसिक रूप से मैं तुम्हारे साथ हूँ।"

किताबों से देविका रानी को खूब प्यार था। ख़ाली वक़्त में किताबें उनकी दोस्त, हमसफ़र बनकर रहती थीं। देविका ने मुझसे बीच-बीच में अपना मन खोलने का प्रयास किया था। "मैं जीवन में बड़े-बड़े लोगों से मिली। टैगोर, नेहरू, गाँधी, आइंस्टाइन के अलावा महान लेखकों, कलाकारों और फिल्मी हस्तियों से, लेकिन मेरे पति स्वेतोस्लॉव ने मुझे सर्वाधिक प्रेरित किया। सभी महान विभूतियों में वे मुझे हमेशा विलक्षण नज़र आए। कुछ महीने पहले मैंने उन्हें खो दिया। आज मैं खुद को पूरी तरह तन्हा महसूस कर रही हूँ। मेरे पति बेहद मासूम थे। किसी छोटे बच्चे की तरह।" ❑

● कविता : **पूनम गिरधानी**



कैनवस



सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया है
आकृतियाँ
रेखाएँ,
कैनवस का अतीत
मेरे वर्तमान से छिटक कर
दूर पीछे जा छिपा है
अब,
दो नाटक
एक कैनवस
अनगिनत किरदार
और दो जोड़ी आँखें हैं
गहरी
भूरी
और ताम्बई रंग वाली
जो ठहर गई हैं
मेरी आँखों के कोर में
अध-ढलकी, अध-गिरी
गहन संवेदना और पीड़ा से भरी हुई
ये अलग समय
अलग काल में हुए
प्रेम की बात है
दो प्रेम
जिन्हें घटना था मंच पर
दो जोड़ी किरदारों के बीच
अलग समय और अलग काल में
वे घटे
और रह गए उन दो युगल जोड़ों के बीच
जो निभा रहे थे मंच पर महज़ अलग-अलग
किरदार
दो प्रेम
एक कैनवस
ब्रश के आड़े-तिरछे स्ट्रोक्स
और उतर आता है प्रेम
महज़ प्रेम नहीं
बस, एक प्रेम
लोग देखते हैं
कैनवस
नहीं देखते प्रेम
बात करते हैं
पर नहीं बूझते प्रेम
आश्चर्य करते हैं
बताते हैं
कैसे एक महान कलाकार
पर पड़ती है दूसरे महान कलाकार के काम
की छाया
उन दोनों कलाकारों के ब्रश स्ट्रोक्स,
रेखाओं, रंगों के चुनाव
को लेकर करते हैं लंबे-लंबे संवाद
और फिर छूट जाता है प्रेम
वो बिंदु
के जिससे शुरू हुई थी उस चित्र की
कल्पना
और उस कल्पना से भरा था इस कलाकार
का संसार
खींची थी उसने कितनी और रेखाएँ
बनाऐ थे कितने अप्रतिम सुंदर
आश्चर्यचकित कर देने वाले और भी कई
चित्र
वो कलाकार भी चतुर ही रहा होगा
जिसे ज़ाहिर पर बातिन का रंग चढ़ाना
आता था
उसे आता था अपनी प्रति-छाया को भी
छिपा देना
कैनवस पर पोते हुए स्याह रंगों की परतों
के बीच..
पर मंच पर घटा वो लम्हा
लगातार घटता ही रहता है
वो कहीं नहीं जाता
उसके होने की सुगबुगाहट
मौजूद रहती है समय के अनंत पटल पर
बस वहीं पर
और, दूसरा प्रेम
वो खेती करता है
अड़ता है
माँगता है अपना हक़
वो भी खींचता है
आड़ी-तिरछी रेखाएँ
ज़मीन पर
उसकी कलाकारी पर भी लोग होते है दंग
बतियाते हैं, दाम लगाते हैं
यहाँ प्रेम पसीने की बूँद है
जो हर बार ज़मीन पर लकीर
उकेरने के साथ-साथ
ख़ुद-ब-ख़ुद ही बदन पर उभर आती है
यहाँ बातिन कुछ भी नहीं
सब ज़ाहिर और सहज है
पर जैसा मैंने कहा कि सब कुछ गड्ड-मड्ड
हो गया है
हर रोज़ घटने वाला प्रेम
नैसर्गिक प्रेम के आगे कमज़ोर पड़ जाता है
सफ़ेद कैनवस पर उकेरा बातिनी प्रेम
स्याह लकीरों में भी दमकता है
करता है वो सफ़र
लातिनी देशों की
यूरोप की
बार-बार दुहराता है
गुज़रता है उस लम्हे से
जो घटा था इन लकीरों के बीच
और, दूसरे प्रेम का
जवान बेटा
मर जाता है
मंच पर एक बार फिर प्रेम करते हुए। ❑

(इब्राहिम अल्काज़ी की चित्र प्रदर्शनी देखते और, हबीब तनवीर के कलाकारों को याद करते हुए)

संपर्क : *मो. 9999203401, ई-मेल : pgirdhani@gmail.com*

● दो कविताएँ : **देवेश पथ सारिया**





पृथ्वी की नाभि का हाल

दक्षिणी फ्रांस के एक समुद्र तट पर
2017 के भूमध्य सागर में
2011 वाली गर्मजोशी नहीं थी
जब मैं भूमध्य सागर से पहली बार मिला था तुर्की में

नहीं, कारण देशांतर नहीं था
रूदन था
जान बचा भागते शरणार्थियों की समुद्र यात्राओं का
जिनके आँसू घुल गए थे

धरती की नाभि में भरे हुए जल में
कुर्दिश मूल के सीरियाई बच्चे
एलन कुर्दी की टूटती हुई साँसों की स्मृति
भूमध्य सागर की लहरों को शोकाकुल किए देती थी
रह-रह कर दुखती थी पृथ्वी की कोख
यह सिहरन आती थी नाभि तक
भूमध्य सागर दर्द में दोहरा हुआ जाता था

सागर को 'डेजा वू' होता था
बीत गई सदियों की क्रूरता का

ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं-
इतिहास के बरक्स शांत है यह समय
यह जानकर,
मैं विक्षिप्त हँसी-हँसते हुए कहता हूँ-
कितने बर्बर रहे हैं हम मनुष्य, सदा से

2020 में जब मैं पेट की बीमारी से ग्रसित हूँ
और रहता हूँ भूमध्य सागर से बहुत दूर
मैं पृथ्वी की नाभि का हाल जानना चाहता हूँ
वह इतिहास से तुलना कर बताए
चिंगारियों की संख्या
और चिंगारियों की ताक़त
क्या वह भी मानती होगी
कि यह अपेक्षाकृत शांत समय है?

थार के कवि संदीप निर्भय के लिए

राजस्थान के धोरों से उठकर
सुदूर दक्षिण गया एक युवा कवि

गर्मी से पकी हुई
उसकी पुश्तों का जेनेटिक्स स्ट्रक्चर
साँवला है
साँवली है उसकी मनचली प्रेमिका
रेगिस्तान में मरीचिका-सी,
एक साँवली लड़की
जिसके चेहरे के आगे एक लाल चुनर
हमेशा उड़ती चलती है
लाल परदे से झाँकता है साँवलापन
रेगिस्तान में दो सूरज उगते हैं

रोज़गार की तलाश में निकला था
अब वह नहीं रह गया बेरोज़गार
उसका कवि त्याग रहा है
बेरोज़गारी के बिंब
बीड़ी के धुएँ के साथ
कविता यूँ ही करवट लेती है

राजस्थान से लाए हुए बीड़ी
के बंडल अब ख़त्म हो गए
चाय के बाद
उसने एक मज़दूर से माँग
कर पी केरल की बीड़ी
और दक्षिणी नशे में डूब कर
विचार किया कि तेंदू पत्ते और तंबाकू
राजस्थान और यहाँ एक जैसे ही आते होंगे क्या
एक जैसा ही होता होगा क्या बीड़ी को बाँधने वाला धागा
इसी सोच में जारी रहते हैं कश

कच्ची-पक्की रोटियाँ बनाना सीखते हुए
एक बिहारी बुढ़िया की कुटिया से माँगकर खाया भात
और उसके अकेलेपन पर जीभर रोया
सुदूर दक्षिण में अकेला पड़ गया कवि

वह खुद भी नहीं जानता
बीड़ी और भात के बहाने
वह माँगता है संग-साथ

बहुत गहरे धँसी है, रची-बसी है
साँवली लड़की
इसलिए वह दक्षिण की
लड़कियों की अपेक्षा
केरल की नदियों,
झीलों को चुनता है प्रेमिका
अपने घर-गाँव में उसने कम देखा है पानी

थार की लड़की को
उसके सुतवाँ तन से नहीं जान पाओगे
जो होता है झील के पानी-सा तना हुआ
कवि के मन में साँवली लड़की
की स्मृति है
और आँखों के सामने झील
झील और लड़की
दोनों की परतों का विश्लेषण करता
दोनों के अंतस में हलचल की तरंगें भेजता
कान में बाली पहने
धोरों से उठ आया वह साँवला लड़का। ❑

संपर्क : मो. +886978064930, ई-मेल : deveshpath@gmail.com

● दो कविताएँ : **राहुल कुमार बोयल**



धिक्कार

हमने लड़ने के लिए
अपने-अपने पक्ष चुने
हमने अपने-अपने विचार गढ़े
एक दूजे के तर्क सुने
मतभेदों को स्वीकारा
विविधताओं का स्वागत किया
हमने पृथक-पृथक संस्कार धरे
हमने सैकड़ों त्रासदियाँ भोगी
पर हम अर्हताओं के कथानक रहे
हमारे भीतर युगों के दुःख थे
पर हम सुंदरताओं के मानक रहे

हमने दुनिया के भूगोल को ललकारा
हमने प्रेम में प्रतिष्ठा पाई
हमने वैश्विक ज़िम्मेदारियाँ उठाईं
किंतु अपनी मिट्टी से प्यार करना
नहीं छोड़ा
हमने नदियों का वरण किया
जीवन-कला में वैचित्र्य पाया
हम घावों को पढ़कर बड़े हुए,
हमने चोटों से प्रतिवाद किया
हमने हर कालखंड को चुनौती दी
हमने तमाम घृणाओं को धूल चटाई

फिर समय के एक टुकड़े ने स्वांग किया
हमें श्रेष्ठ-हीन के बीच में टाँग दिया
हम बेसिर-पैर की लड़ाइयों के पुरोधा हुए
हज़ारों अवांछित युद्धों में सम्मिलित हुए
हम गर्व से फूलकर कुप्पा हुए
अपनी ही दृष्टि में योद्धा हुए
हमने धीरे-धीरे धैर्य खोया
हम विपाक भूले, वीर्य खोया
हमने वैकुंठ और स्वर्ग के फ़र्ज़ी स्वप्न देखे
हमने हठधर्मिता भोगी, हमने कृतघ्न देखे

हमने परिष्कार से मुँह मोड़ा
हमने चिरपरिचित मार्ग छोड़ा
हमने बेशर्मी की हदें लाँघी, दाँत चिराए
हमने धूमिल किया अपने को, गरियाए
धिक्कार! हम धिक्कार की ध्वनि सुनते गए
ओह! प्रतिकार में हम भी यही दोहराते गए
अपने गीत भूलते रहे, बस गालियाँ गाते गए
धिक्कार! छिः छिः! थू-थू! मैं-मैं! तू-तू!

हम बैल थे

हमने हल जोते
खेतों की सफ़ाई में हाथ बँटाया
कुओं से पानी निकाला
हमने ऊख पेरी
घाणी से तेल निकाला
हमारी पीठ ने तुम्हारे कूल्हे ढोए
बग़ैर हमारे सारे चूल्हे रोए
हमारे दुःख से धरती हरी थी
हमने हस्ती गिरवी धरी थी
हम बस गोबर-मैल लगे
हाँ, हम नहीं थे पक्की छत की मानिंद
पर हम निर्धन की खपरैल थे
हम बैल थे
केवल बैल

हम भादो की काली चौदस को जन्मे
और केवल अमावस तक जीवित रहे
बस एक दिन जिए,
पोला-पिठोरा में एक दिन सजे
बस एक दिन तुम्हारी खीर खाई
बस एक दिन पूरणपोली चखी
तुमने हमारे सींग सँवारे
पर नकेल धँसा कर यूँ ही रखी
कहीं अन्नमाता ने गर्भ धरा
कहीं धान में उतरी दुग्ध की धारा
बस सधा तुम्हारा काज
बस मना तुम्हारा पर्व
हम जोड़ी में दौड़े
दौड़ कर जिताया तुम्हें
मगर हम हारे
कि हम नहीं थे झूरी के हीरा-मोती
हम बिगड़ैल थे
हम बैल थे
केवल बैल थे

हम वृषभ थे
हम ऋषभ थे
हम बारात में तुम्हारे रथ बने
कहीं खिलौनों की तरह बिके
कभी मिट्टी के हुए
कभी पत्थर के हुए
सड़क पे कट के मरे
हम आवारा कहलाए
पीछे पड़े डंडों से डरे
हमारे खेत छूटे
हमारे भाग फूटे
हम ताक़तवर थे
न कि गुस्सैल थे
हम बैल थे
केवल बैल

हमने साथी खोए
हम तन्हा रोए
हम गाढ़ी अँधेरी रात में
तेज़ धूप-बरसात में
बर्फ़ानी शीत में तुम्हारे काम आए
हमने लकड़ियों के गट्ठर खींचे
हम चलते रहे आँखें मींचे
हमने छींके देखे
हमने खुराई झेली
हमने जलते जंगल देखे
हमने उगते मक़तल देखे
हम भूखे रहे, खेतों को छाना
सबने हमें लावारिस माना
हम शिव के नन्दी नहीं थे
हम शैल थे
हम बैल थे
केवल बैल।

(पोला-पिठोरा कृषकों से जुड़ा हुआ त्योहार है। भाद्रपद की अमावस्या को यह पर्व विशेषकर महाराष्ट्र, कर्नाटक एवं छत्तीसगढ़ में मनाया जाता है। 'पूरणपोली' नामक विशिष्ट आहार इस दिन बनाने का रिवाज है) ❑

संपर्क : *मो. 7726060287, ई-मेल : rahulzia23@gmail.com*

● दो कविताएँ : **नंदा पांडेय**





आत्मा का भार

आखेट पर निकली थी वो,
भटक रही थी जंगलों में
प्रण किया था
कि रीते हाथ नहीं लौटेगी

रस्से पर चलने का दृढ़ निश्चय
बचपन से ही सीखा था उसने
जो चाहती वो करती

जंगल में
जानवरों के खांद तो थे
पर, जानवर जाने कहाँ लापता थे
भय, लज्जा और निर्भयता के हठबंध में
घिरी थी
कि अचानक एक दुष्ट सियार
अदृश्य झाड़ी से झपट कर
उसके गले लग गया
उसकी आतुरता से
एक रहस्य की गंध आ रही थी

उसका दिल बुरी तरह धक-धक
करने लगा
वह विज्ञान, इतिहास और दर्शन सब भूल
गई

इससे पहले कि दिल में
संभावनाएँ जगने लगती

कलेजे की धक-धक के साथ
उसने आँखों के संकेत से
उसे दूर रहने का आग्रह किया

और अविलंब अपनी उमंग को
भयानक वेग से बहते वक़्त की धार में
बहा दिया

अब उसकी आत्मा का भार
हल्का हो गया था.....!!

वापसी का रास्ता उसे नहीं मालूम था

वापसी का रास्ता उसे नहीं मालूम था

नहीं मालूम था
जाने-अनजाने
वक़्त-बेवक़्त रेंगते हुए इस रिश्ते से
वापसी का रास्ता
उसे नहीं मालूम था

नहीं मालूम था
वक़्त की पीठ पर तेज़ी से
उभरते और विलुप्त होते
मदांत उस रिश्ते के आलाप से
जिसके गवाह सिर्फ़
चाँद और तारे थे.....
वापसी का रास्ता
उसे नहीं मालूम था

संदेह और अवसाद की दावाग्नि से उठते
महाप्रलय के इस शोर से ख़ामोश ध्वनि में
वापसी का रास्ता उसे नहीं मालूम था

आज खोज रही है
वापसी का दरवाज़ा
अपनी आवारगी में भटकते हुए.....!! ❑

***संपर्क** : मो. 7903507471, ई-मेल : nandapandey002@gmail.com*

आजकल के ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका----------का ❑ एक वर्ष (230 रुपये)
❑ दो वर्ष (430 रुपये) ❑ तीन वर्ष (610 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूँ।
शुल्क का रुपये----------डिमांड ड्राफ्ट
----------दिनांक----------संलग्न है।

हस्ताक्षर----------

नाम
:----------

पता
:----------

पिन : ❑❑❑❑❑❑

- कृपया अपना चंदा डी.डी. *महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय* के नाम बनाएँ।
- पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।
- 'आजकल' पत्रिका ऑनलाइन ख़रीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएँ।
- दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएँ हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिन्दी व अंग्रेज़ी), *योजना* (हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

संपादक (प्रसार)

प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन,सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

● कहानी



पागलख़ाना

नीरज नीर

आज कल पतरातू घाटी पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र बनी हुई है। उसकी सर्पाकार सड़कें एवं सुरम्य वादियाँ लोगों को बरबस अपनी ओर खींचती हैं। राँची से उसी पतरातू घाटी की तरफ़ जाने पर आता है कांके। कांके पहले अपने पागलख़ाना के लिए प्रसिद्ध था। कांके की इतनी प्रसिद्धि थी कि किसी को अगर पागल कहना हो तो पागल न कहके आप कह सकते थे कि वह "कांके रिटर्न है" और आपकी बात सभी लोग समझ जाते। पर अब ऐसी बात नहीं है। पागलख़ाना तो वहाँ आज भी हैं पर अब वहाँ आधुनिक आवासीय कॉलोनियाँ और बाज़ार भी हैं।



महाविद्यालय की परीक्षा पास करने के बाद मैं रोज़गार की तलाश में राँची आ गया था। उन दिनों मैंने कांके के उसी पागलख़ाने में दूध और ब्रेड की आपूर्ति का काम शुरू किया था। सैकड़ों एकड़ में फैले इस पागलख़ाने में हज़ारों की संख्या में मानसिक व्याधि से पीड़ित मरीज़ भर्ती थे, जिनके खाने से लेकर अन्य कई ज़रूरत की चीज़ें वहाँ सप्लाई की जाती थीं। मेरी तरह के वहाँ कई सप्लायर्स थे। कुछ तो बड़े सप्लायर्स जिनके काम की देखरेख उनके मैनेजर या मुंशी किया करते थे। मेरा काम छोटा और नया था, इसलिए मैं अपना काम स्वयं ही किया करता था।

पागलख़ाने का मुख्य द्वार कुछ ऊँचाई पर था, जिसके सामने चबूतरानुमा बड़ी-सी खुली जगह थी और उसके बाद थी बाहर की ओर खुलती हुई विस्तृत सीढ़ियाँ। मुख्य द्वार के दोनों तरफ़ गुलमोहर के घने पेड़ थे, जिसकी छाया उसके सामने पड़ती थी। खुली जगह के दोनों तरफ़ छोटा-सा घेरा बना हुआ था।

सबसे पहले उसे मैंने उसी घेरे पर बैठे हुए देखा था। वह घेरे पर शांत भाव से बैठी हुई गुलमोहर के फूलों को देख रही थी। उसने नीले रंग की गाउन पहन रखी थी, जो आरोग्यशाला में भर्ती मरीज़ों की यूनिफ़ॉर्म थी। वह एक जवान औरत थी, कोई पैंतीस के आस-पास की।

मैंने उसकी यूनिफ़ॉर्म को देख कर सोचा, ये पागल मरीज़ यहाँ बाहर कैसे बैठी है?

तभी उसने मेरी ओर देखते हुए कहा, "ए..... एक छोटा पैकेट ब्रेड मिलेगा क्या?"

मैंने बिना आगे कुछ पूछे एक पैकेट ब्रेड उसकी ओर बढ़ा दिया। उसने लिया और वहीं बैठकर खाने लगी।

उसके बाद वह मुझे अक्सर वहाँ बैठी दिख जाती। जब मुझे देखती तो मुस्कुरा देती, लेकिन उसने कभी फिर से ब्रेड नहीं माँगा। एक-दो बार मैंने उसे अपनी ओर से ब्रेड देने की पेशकश भी की लेकिन उसने मना कर दिया। शायद ख़ाली ब्रेड खाना उसे अच्छा नहीं लगा हो। वह चुपचाप बैठी या तो आसमान को निहारती रहती या गुलमोहर के पेड़ों को देखती रहती।

एक बार मैं उसके लिए ब्रेड के साथ बटर का एक छोटा पैकेट ले गया। उसने खुशी-खुशी लिया और वहीं बैठकर खाने लगी।

वह कभी-कभी वहीं चबूतरे पर झाड़ू लगाती दिख जाती थी। उसकी यूनिफ़ॉर्म से तो लगता था कि वह मानसिक आरोग्यशाला की मरीज़ ही है पर उसे देखकर ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि वह पागल है। वह मुझे सामान्य स्वस्थ महिला-सी दिखती थी।

संपर्क : मो. 8797777598, ई-मेल : neerajcex@gmail.com

कुछ दिनों तक वहाँ दिखने के बाद उसका दिखना बंद हो गया।

पागलख़ाने के उस हिस्से में जिधर मानसिक रोगी रहा करते थे, मेरे जैसे बाहरी लोगों को जाने की अनुमति नहीं थी। मैं स्टोर तक जाया करता था, जिससे सटा एक गेट था, जो ज़नाना पागलख़ाने के भीतर की ओर खुलता था। जहाँ से ज़नाना पागलख़ाना का कुछ हिस्सा दिखाई देता था। पागलख़ाना के भीतर का दृश्य बहुत ही बेचैन कर देने वाला होता था। किसी दूसरी ही दुनिया में खोये हुए, अपने-आप से बतियाते हुए, बिखरे केश, अजीब-सी भाव-भंगिमा, कभी हँसते, कभी चीख़ते-चिल्लाते लोग। यह दृश्य किसी भी संवेदनशील आदमी को बेचैन कर सकता था। हालाँकि मैंने महसूस किया था कि वहाँ काम करने वाले कर्मचारी इन बातों के प्रति असंवेदनशील थे। यह शायद उनकी जरूरत भी थी, क्योंकि वहाँ की स्थिति के प्रति संवेदनशील होकर वहाँ रहना बहुत ही मुश्किल कार्य था।

कोई दो-तीन सप्ताह के पश्चात जब एक बार मैं सामान की डिलीवरी देकर लौट रहा था तो वह पुनः वहीं बैठी मिली। उसने मुझे देखा और अपने पास बुलाया। मैं वहाँ गया तो उसने मुझे अपने पास बैठने के लिए कहा। मैंने पहली बार उसे क़रीब से देखा था। वह साँवले रंग की खूबसूरत-सी महिला थी।

"तुम्हारी शादी हो गई?" उसने पूछा।

नहीं... अभी तो नहीं हुई है, क्यों?" मैंने कहा।

"नहीं यूँ ही..." उसने कहा।

"तुम अच्छे इंसान हो। भगवान तुमको अच्छा जीवनसाथी देगा।"

"अच्छा...!" मैं उसकी बात सुनकर मुस्कुरा उठा।

"तुम्हारी शादी हो गई?" मैंने उससे पूछा।

"हाँ भी और नहीं भी", उसने कहा।

"ऐसा कैसे 'हाँ' भी और 'नहीं' भी"?

"हाँ ऐसा ही है। शादी तो हुई थी लेकिन पति ने छोड़ दिया तो अब शादी-शुदा नहीं हूँ।" उसके चेहरे पर दर्द उभर आया था।

तुम मरीज़ की तरह तो दिखती नहीं हो?" मैंने उससे पूछा।

"मैं मरीज़ ही हूँ पर पागल नहीं" उसने कहा।

"फिर यहाँ बाहर कैसे बैठी रहती हो?" मैंने पूछा

"सलीम की वजह से। उसने मुझे बाहर की साफ़-सफ़ाई का काम दिलवा दिया है।

जो मरीज़ ठीक हो जाते हैं, उनसे कुछ न कुछ काम करवाया जाता है। मैंने बहुत आरजू-मिन्नत करके बाहर सफ़ाई का काम लिया है"।

उसने कोने में रखे एक झाड़ू की तरफ़ इशारा कर दिया।

"लेकिन बीच में तुम दिखी नहीं काफ़ी दिनों तक।"

"वो ... हा हा हा ..." वह ठठाकर हँस दी।

"मैं भाग गई थी"। उसने हँसते हुए कहा।

"पर देखो यहाँ तो लोग पागलों का भी बलात्कार कर देते हैं"। उसके चेहरे पर पीड़ा के चिन्ह उभर आए।

"भागने के बाद जब शाम हो गई तो मुझे समझ में नहीं आया कि कहाँ जाऊँ। एक जगह मैं अँधेरे में छुप कर बैठी थी। वहाँ कुछ लोगों की नज़र मुझ पर पड़ गई। उन्हें समझ आ गया कि मैं पागलख़ाने से भागी हुई पागल हूँ, क्योंकि मैंने यहाँ का ड्रेस पहना हुआ था। वे लोग मुझसे ज़बर्दस्ती करने लगे। मैंने बहुत प्रतिरोध किया, बहुत शोर मचाया लेकिन रात के सुनसान में मेरी पुकार कौन सुनता? वो तो भला हो सलीम का जो अपनी साइकल से उधर से ही अपनी ड्यूटी ख़त्म करके अपने घर जा रहा था।"

"कभी कभी तो मुझे लगता है कि जो पागल अंदर बंद हैं, उनसे बड़े पागल बाहर खुले में घूम रहे हैं, जो कि हिंसक और समाज के लिए ख़तरा भी हैं। यह समाज औरतों के लिए आज भी बर्बर है"।

वह बताती रही...

"अंदर मुझे बहुत बेचैनी होती है। लगता है किसी ने क़ैद करके रखा है। मेरी साँस रुक जाएगी। यहाँ आकर बैठती हूँ तो अच्छा लगता है। लगता है मैं भी इस दुनिया का हिस्सा हूँ। पता नहीं कब तक मुझे यहीं सड़ते रहना है।

अब लेकिन मैं नहीं भागूँगी। भाग कर जाऊँगी भी कहाँ?"

वह एकालाप करने लगी थी, जैसे वहाँ मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं था।

"क्यों घर नहीं है तुम्हारा?" मैंने पूछा।

मेरे प्रश्न से उसे पुनः मेरे वहाँ होने का बोध हुआ।

"पहले था, अब कोई घर नहीं है।" उसने कहा।

"यहाँ कैसे आ गई?"

इस पर वह चुप रही। काफ़ी देर की चुप्पी के बाद धीरे से बोली, "पागल थी इसीलिए..." कहते हुए दूर आसमान में निहारने लगी। मानो उसका कुछ खो गया हो, जिसे वह आसमान में ढूँढने का प्रयत्न कर रही हो। बहुत देर तक वह ऊपर देखती रही।

"लेकिन अब तो तुम ठीक हो गई, अब क्यों नहीं जाती?"

"कहाँ जाऊँ? वैसे भी जब तक कोई लेने न आए, अस्पताल वाले किसी को छोड़ते ही नहीं, यही नियम है यहाँ का। यहाँ तो कई ऐसे मरीज़ हैं, जो बिलकुल ठीक हो गए हैं, घर जाना चाहते हैं पर उन्हें कोई ले जाने वाला नहीं है, इसलिए अस्पताल उन्हें जाने नहीं देता है। वे यहीं रहकर कुछ काम करती हैं और दुख में घुलती रहती हैं। उनके जीवन में आगे का रास्ता बंद हो गया है। उनके सामने सिर्फ़ अँधेरा है, जो गहन से गहनतर होता जाता है।

जानते हो बाबू जो सचमुच पागल हैं उन्हें तो अपनी स्थिति का एहसास नहीं है लेकिन जो पागल नहीं हैं या जो ठीक हो गए हैं उनकी पीड़ा पर्वत-सी है। उनकी रुलाई और चीख़ें सुनकर आत्मा काँप उठती है, वे घर जाना चाहती हैं, कोई अपने परिवार से तो कोई अपने बच्चों से मिलना चाहती हैं लेकिन कोई उन्हें ले जाने वाला नहीं है। कई लोग तो जो पहले ठीक हो गए थे, इसी दुख में फिर से पागल हो गए। दरअसल पागलपन ही अब उनका इलाज है। कोई इतना दुख कैसे सहे? कम-से-कम पागल हो जाने पर दुख का एहसास तो ख़त्म हो जाता है।"

उसके चेहरे पर दर्द का अथाह सागर हिलोरें लेने लगा था, जो धीरे-धीरे मुझे भी अपने चपेटे में ले रहा था।

थोड़ी देर ख़ामोशी क़ायम रही।

"तुम्हारा नाम क्या है?" मैंने बात बदलने की ग़रज़ से पूछा।

"मेरा नाम..... हा हा हा....." वह अचानक से मेरे इस प्रश्न पर ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी थी। उसकी इस विद्रूप हँसी से मैं तो थोड़ी देर के लिए घबरा गया। थोड़ी देर पहले ही वहाँ कायम एक गहरी एवं पीड़ादायक ख़ामोशी धुआँ हो गई थी।

"मेरा यहाँ कोई नाम नहीं है, नंबर है। हा हा हा....."

"पहले मेरा नाम राधा था। हा हा हा हा...."

"था क्यों, अब क्या नाम है तुम्हारा? मैने उससे प्रश्न किया।"

"अब 312 हा हा हा.....।"

"312?"

"हाँ, यहाँ कई वर्षों से मेरा सिर्फ़ एक नंबर है 312, उसी नंबर से अब जानी जाती हूँ। कोई मेरे नाम से मुझे नहीं बुलाता।

"हाँ, सलीम बुलाता है मुझे राधा कहकर।" अचानक वह खुश हो गई, उसके चेहरे पर बच्चों से भाव उभर आए।

"मुझे उसके मुँह से राधा सुनना अच्छा लगता है। तुम कहोगे मुझे राधा?"

अब उसके चेहरे पर एक अजीब-सी तसल्ली एवं शांति छा गई थी।

"ठीक है राधा मैं कहूँगा।"

वह खुश हो गई।

"तुम्हारे परिवार में कोई नहीं है?" मैंने ज़रा अधीरता दिखाई।

"इतनी जल्दी क्या है बाबू, मुझे तो अपनी आख़िरी साँस तक यहीं रहना है। धीरे-धीरे सुनाऊँगी अपनी कथा तो मेरा भी कुछ समय तुम्हारे साथ कट जाएगा"। उसने मुस्कुराते हुए बाल-सुलभ नटखटता से कहा।

वह कुछ देर रुकी, फिर उसने आगे कहना शुरू किया-

"मैं बीस साल की थी जब मैं पागल हो गई थी। सचमुच की पागल नहीं प्यार में पागल। मुझे एक आदमी से प्यार हो गया था। मैं तब बी.ए. कर रही थी। मुझे लिखने-पढ़ने का शौक था। मैं नाटक भी किया करती थी। वह भी नाटक करता था। स्त्री जब प्यार में होती है तब अपना तर्क और विवेक खो देती है। वह दरअसल अँधी हो चुकी होती है। उसे अपना भला-बुरा सोचने की शक्ति ही नहीं रह जाती है। वह तो बस अपने प्यार को पाना चाहती है एवं अपने प्यार पर सर्वस्व लुटा देना चाहती है। जीवन की नदी में प्यार एक ऐसा भँवर होता है, जो बाहर निकलने ही नहीं देता है। अपने अंदर डुबो लेता है। मैं भी गहरे प्यार में थी। मैंने भी उसे टूट कर चाहा था।

मैंने अपने माँ-बाप से विरोध करके उससे शादी का निर्णय लिया था। वे बहुत दुखी हुए थे लेकिन मुझे उनकी तब परवाह कहाँ थी? मैं तो किसी भी तरह अपने प्यार को पाना चाहती थी। मैंने बहुत दुखी किया था अपने माँ-बाप को। इसी की सज़ा शायद मुझे मिली!!"

वह सुबक-सुबक कर रोने लगी थी। काफ़ी देर तक वह सुबकती रही फिर उठकर बिना कुछ कहे अंदर चली गई।

मेरा मन उसका रोना देखकर द्रवित हो गया था। कुछ देर मैं वहीं बैठा उसके बारे में सोचता रहा। फिर उठकर ओ.पी.डी. की तरफ़ चला गया। वहाँ सुबह से ही मरीज़ों की एवं उन्हें लेकर आए परिवार वालों की भीड़ थी। अजीब अफ़रा-तफ़री मची थी। कई मरीज़ों को सिकड़ से बाँध कर रखा गया था। कुछ मरीज़ अजीब-अजीब हरकतें कर रहे थे, कुछ ऐसे शांत बैठे थे कि पता करना मुश्किल था कि मरीज़ कौन है और तीमारदार कौन। हर कोई परेशान हाल था। मैं कुछ देर वहाँ बैठा रहा फिर घर चला आया।

उसके बाद कुछ दिनों तक वह नहीं दिखी।

एक दिन वह फिर दिखी। वह वैसे ही निर्विकार भाव से गुलमोहर को निहार रही थी। गुलमोहर पर बैठी एक मैना भी उसे एकटक देखे जा रही थी। मानो दोनों में पहले से परिचय हो एवं दोनों आपस में एक-दूसरे से सुख-दुख बाँटती हों।

मैं चुपचाप उसकी नज़र बचाकर निकल जाना चाहता था लेकिन उसने मुझे देख लिया। उसने मुझे इशारे से बुलाया।

"क्या हुआ.....? आगे की कहानी नहीं सुनोगे?" उसने एक गहरी मुस्कान के साथ कहा। उसने मेरा नज़र बचाकर जाना देख लिया था।

मैं बैठ गया। वह सुनाने लगी।

"शादी के बाद मैं बहुत खुश थी। मैं अपने पति से बहुत प्यार करती थी। उसी के लिए मैं सब कुछ छोड़ कर आई थी। सब कुछ बहुत अच्छा चल रहा था। मैं भी खुश थी कि मैंने जिससे प्यार किया था, वही मुझे पति रूप में मिला।

समय बीतने लगा पर धीरे-धीरे मैंने महसूस किया कि उसका मेरे प्रति आकर्षण कम होता जा रहा है लेकिन शुरू में इसे मैंने अपने मन का भ्रम समझा। जब दो लोग हमेशा साथ-साथ रहते हैं तो आपसी संबंधों के वज़न का एहसास नहीं होता है।

लेकिन शनैः शनैः यह स्पष्ट होता गया कि हमारे आपसी संबंधों की डोर कमज़ोर होती जा रही थी। वह मुझसे बात-बात में चिढ़ने लगा था। मेरे हर काम में मीन-मेख़ निकालने लगा। उसे मेरा प्यार भी नाटक लगने लगा था।

शीघ्र ही इन सबका कारण भी खुलकर सामने आ गया। वह एक दूसरी औरत से प्यार करने लगा था। उसे अब मैं खूबसूरत नहीं लगती थी। वह उस दूसरी औरत से शादी करना चाहता था।"

वह एक सुर में बताए जा रही थी। मानो वर्षों से जमा पानी बाँध तोड़ कर बह निकला हो।

"इस बात ने मुझे गहरा मानसिक आघात दिया। मैंने सपने में भी इस बात की कल्पना नहीं की थी कि जिस आदमी से मैं इतना प्यार करती हूँ, वह कभी मेरे संग ऐसा धोखा करेगा। मैं सब कुछ सह सकती थी लेकिन अपने प्यार का बँटना नहीं।

जानते हो औरत की सबसे बड़ी दुश्मन औरत ही होती है। उस औरत ने मेरे हँसते-खेलते जीवन में आग लगा दी थी। पता नहीं मेरे पति पर क्या जादू किया था कि मेरा पति मुझसे दूर होता गया।

मैंने उसे समझाने की बहुत कोशिश की लेकिन कोई फ़ायदा नहीं हुआ। मेरी कोशिशों के प्रतिफल में वह हिंसक होता चला गया। मेरे साथ मार-पीट करने लगा। विश्वास का टूटना अक्सर अवसाद से भर देता है। मैं अवसाद से घिरती चली गई। मैं उदास रहती थी। मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगने लगा।

इन सबके बीच उस औरत के प्रति मेरे पति का आकर्षण बढ़ता चला गया। खुलेआम चर्चा होने लगी कि वह उससे शादी करना चाहता है।

मैं अवसाद के दलदल में गहरे धँसती चली गई। मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ? मैं रोती और अपनी क़िस्मत को कोसती। कोई मुझे सँभालने वाला नहीं था। मेरा रूप-सौंदर्य भी ग्रहण लगे चाँद की तरह घटने लगा था। समाज, परिवार का यह काम होता है कि जब कोई दुखी हो तो उसे सम्हाला जाए। उससे प्यार से बात की जाए। डूबते व्यक्ति को तिनके का सहारा भी बड़ा होता है लेकिन किसी को मेरी परवाह नहीं थी। मैं डूबती जा रही थी। इसी बीच मेरे पिता की मौत हो गई जिसके कारण मैं और भी विचलित हो गई। मुझे जब सबसे ज़्यादा सहारे की ज़रूरत थी, मेरा पति मेरी पिटाई करने लगा।

मैं घर से भाग जाना चाहती थी लेकिन उन लोगों ने मुझे भागने नहीं दिया। इलाज कराने के बहाने यहाँ कांके ले आए और पैसा ख़र्च करके इस पागलख़ाना में भर्ती कर दिया। मैं पागल नहीं थी बाबू। मुझे पागल घोषित करवा दिया। बाद में उसने दूसरी शादी कर ली।"

इतना कहकर वह हाँफने लगी थी। मानो मीलों दौड़ कर आई हो। कुछ देर वह रुकी। फिर उसने कहना शुरू किया :

"घोषित पागल के साथ कौन खड़ा होता है? सबने मान लिया कि मैं पागल हूँ। सबने उसके शादी को उचित ठहराया। आख़िर कोई एक पागल के साथ जीवन कैसे गुज़ार सकता है? कोर्ट-कचहरी भी पागलों की बात का यक़ीन नहीं करते हैं।

मैं दुखी परेशान और अवसादग्रस्त थी लेकिन पागल नहीं थी, यहाँ आकर मैं ज़रूर पागल हो गई, पागलों के बीच रहकर।

समाज किसी पागल के साथ कभी खड़ा नहीं होता। पिता की मृत्यु हो चुकी थी। माँ लाचार थी। भाई ने पहले ही सारे संबंध ख़त्म कर लिए थे। उसे लगता था कि परिवार के इच्छा के विरुद्ध शादी करके मैंने समाज में उसकी इज़्ज़त पर धब्बा लगाया है।"

वह सुनाती रही मानो आज अपनी कहानी सुना कर वह अपने मन का बोझ हल्का करना चाहती हो।

"अस्पताल वाले तुम्हारे घर ख़बर नहीं करते हैं?" मैंने उससे सवाल किया।

"करते हैं। हर महीने मेरे जैसे उन सभी मरीज़ों के घर के पते पर चिट्ठी लिखी जाती है, जो ठीक हो गए हैं लेकिन तुम्हें क्या लगता है, क्या होता होगा?" उसने मुझसे ही पूछा।

"मुझे क्या पता?" मैंने अनभिज्ञता जताते हुए कहा।

"जो लोग यहाँ ग़लत तरीके से मरीज़ों को भर्ती कराते हैं, वे ग़लत पता दे देते हैं। अगर सही पता भी दिया तो पोस्टमैन से लिखवा देते हैं कि इस पते पर कोई नहीं रहता है।

कुछ के पति दूसरी शादी कर लेते हैं, कुछ लोग इस डर से नहीं ले जाते हैं कि कहीं जायदाद में हिस्सा न माँग ले। कुछ लोग समाज में बदनामी के डर से नहीं ले जाते हैं।

कुछ दिनों तक चिट्ठियाँ भेजी जाती हैं, फिर बंद कर दी जाती हैं और इसी के साथ उन मरीज़ों की क़िस्मत इन्हीं चारदीवारियों में बंद हो जाती है।

लेकिन समय आदमी को हर परिस्थिति में जीना सीखा देता है। मैं भी किसी तरह यहाँ जीने लगी। इसी बीच मुझे यहाँ सलीम मिला। सलीम यहाँ मेस में काम करता है। उसने मुझे सँभाला, जीने का हौंसला दिया। उसने मेरे आँसू पोछे। अब वही मेरा एक मात्र संबल है।"

"तो उससे शादी क्यों नहीं कर लेती हो?"

"अरे! मैंने तो उससे कहा कि मुझसे निकाह कर लो लेकिन वह डरता है। कहता है उसकी नौकरी चली जाएगी। वह पहले से शादी-शुदा है। उसके चार बच्चे हैं। नौकरी चली जाएगी तो वह-खाएगा कैसे? अपना परिवार कैसे चलाएगा?

वह कहता है अस्पताल में यह सब करने की सख़्त मनाही है लेकिन ख़ाक सख़्त मनाही है।" वह ज़ोर से हँसने लगी। "हा हा हा हा..."

"सब यहाँ खुल्लम खुल्ला यही करते रहते हैं। सलीम जब चाहता है मेरे साथ सोता है, तब मनाही नहीं होती?

ऑफ़िस का बड़ा बाबू नर्स रेशमा के साथ लटपट करता है, तब मनाही नहीं होती है? इतना बड़ा कैम्पस है, ज़्यादातर लोग तो यहाँ पागल हैं, उन्हें क्या पता चलता है कि क्या हो रहा है?

सोना तो सब मेरे साथ चाहते हैं लेकिन मैं नहीं चाहती। अभी जिस साहब ने मुझे बाहर काम करने की अनुमति दी है, वह भी मेरे साथ सोना चाहता है। मैं क्या समझती नहीं? उसने अगर मुझे तंग किया तो पीटूँगी।" उसके चेहरे पर पहली बार इस तरह का आत्मविश्वास दिख रहा था।

"लेकिन मुझे सलीम का साथ अच्छा लगता है। वह मेरा ख्याल तो रखता है।" कहकर वह चुप हो गई, फिर चुपचाप उठी और अंदर चली गई। मैं उसे जाता देखता रहा।

"एक औरत हमेशा प्रेम की तलाश में रहती है। इसीलिए शायद वह अक्सर प्रेम में ठगी जाती है।" मैंने सोचा।

उसके बाद जब वह कई दिनों तक नहीं दिखी तो मुझे उसकी चिंता हुई। मैंने किसी तरह सलीम से संपर्क किया और राधा के बारे में जानकारी चाही।

सलीम ने बताया कि जिस साहब ने उसे बाहर काम करने की अनुमति दी थी, राधा ने उसकी पिटाई कर दी। इसलिए उसका फिर से उपचार शुरू किया गया है।

"उपचार? लेकिन वह तो पूर्णतः ठीक थी।" मैंने कहा।

"लेकिन आपके कहने से क्या होता है बाबू? उसने साहब पर हाथ उठा दिया था।"

मुझे मालूम था कि उसने साहब पर हाथ क्यों उठाया होगा।

अंदर से एक मरीज़ के ज़ोर-ज़ोर से चीख़ने की आवाज़ आ रही थी। उसे शायद दौरा पड़ा था। दो कर्मचारी उसे पकड़ कर ले जा रहे थे, फिर अचानक वह ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी थी। मैंने बेचैनी में अपनी आँखें मूँद लीं।

उसके बाद राधा मुझे फिर वहाँ कभी दिखाई नहीं दी। मुझे उसकी घुटन बहुत दिनों तक महसूस होती रही। मैंने शीघ्र ही वहाँ का काम छोड़ दिया।

आज इतने सालों के बाद फिर से कांके जा रहा हूँ, क्या राधा अभी भी वहीं होगी? ❑

● कहानी



तिनकों की गुड़िया

निशात असलम

सूर्यास्त के पश्चात् आकाश का रंग फीका पड़ गया था। मन के अंर्तद्वंद्व की भांति सुरमुई बादलों का धुआँ न जाने किस ओर जा रहा था। शाम की परछाइयाँ गहरी एवं रोमांचक होती जा रही थी। छत पर कोई सूखा पत्ता खड़का तो अपने कार्य में विलीन देवयानी चौंक पड़ी। उसने खिड़की से बाहर झाँक कर देखा, सड़क सुनसान पड़ी थी। सामने के गेस्ट हाउस में बहुत कम लोग आते-जाते दिखाई दे रहे थे। वह एक ठंडी साँस भर मेज़ पर पड़ी सूखी घास, भुट्टे के विभिन्न रंगों में रंगे हुए पत्तों एवं सूखे तिनकों के ढेर को समेटते हुए कुछ सोचने लगी। उसका अपना जीवन भी तो किसी सूखे पत्ते की भाँति ही निर्जीव था। नीरस, उजाड़ और सूना- जहाँ हर्ष और उल्लास की कोई झलक तक नहीं थी। शिशिर ऋतु की जादूभरी रातें हों या वर्षा ऋतु की आँसू बहाती दोपहरी, सारे मौसम देवयानी को एक जैसे ही लगते थे जिसका कोई हमदम, कोई मीत न हो, उसे भला जीवन कैसे आकर्षक लग सकता है! देवयानी को एहसास था कि उसकी भावुकता ने ज़िंदगी के अन्य पहलुओं के सौंदर्य के प्रति उसके दृष्टिकोण को शायद नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है, लेकिन अब इसे नया आयाम देने तथा दूसरों के साथ रोज़मर्रा के सुख-दुख को बाँटने में वह स्वयं को विवश पाती थी। घास-फूस एवं तिनकों से बने हस्तकला के अद्‌भुत नमूने जो कदंब के पेड़ों में झूला झूलते राधा-कृष्ण और झूमरों, रंग-बिरंगी टोकरियों एवं देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के रूप में इस अँधेरे, बड़े से कमरे में बिखरे पड़े थे, उसका दुख बाँट लेते थे। उन सब के बीच उसका अपना अस्तित्व भी किसी देवमालाई कथा के एक रहस्यमय चरित्र की भांति ही लगता था। यदि वह चाहती तो कोई अच्छी नौकरी कर सकती थी किंतु अशोक को दी हुई भीख को वह अपना सहारा न बना सकी। बचपन से सीखी हुई कला को ही उसने अपना व्यवसाय बना लिया। इस कला से जितने पैसे होते थे वह उसकी आवश्यकताओं से कहीं अधिक थे। इस आय का अधिकाँश भाग ग़रीबों में बाँट कर सादा जीवन व्यतीत करना उसकी आदत बन चुकी थी। अपने कड़वे अतीत को उसने लगभग भुला दिया था परंतु आज अशोक ने वहाँ आकर यादों के पुराने घाव को खुरच डाला था। इसकी असहनीय टीस ने देवयानी को बेचैन कर दिया था।

विवाह के कुछ ही दिन बीते थे मगर अशोक का व्यवहार कुछ बदल-सा गया था। दोनों का दांपत्य जीवन कड़वा नहीं तो मृदुल भी नहीं रह गया था। देवयानी को लगा कि अंततः विवाह के आरंभिक दिनों की गर्मजोशी सदैव तो नहीं बनी रह सकती। अशोक अपने कार्य पर ध्यान देने वाला एक सुलझा हुआ गंभीर युवक था। उसकी हर बात और हर अदा अछूती थी जैसा कि प्रायः बुद्धिजीवियों में होती है। देवयानी उसकी योग्यता, उसके दार्शनिक विचारों एवं उसके शानदार व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित थी। आज के हाईटेक युग की उपलब्धियाँ कितनी भी हों शादी-विवाह की समस्याएँ तो और भी जटिल होती जा रही हैं। बहुत ही योग्य और सुंदर युवतियों को भी मनचाहे वर का मिलना मुश्किल है। आकर्षक और शिक्षित तो वह भी थी परंतु केवल ग्रेजुएशन ही किया, क्योंकि उसके परिवार वाले पुरानी विचार-धाराओं और संस्कारों में विश्वास रखते थे। उनके अनुसार लड़कियों के लिए बी.ए., एम.ए. कर लेना ही पर्याप्त था। अंततः उनसे एक अच्छी गृहिणी ही बनने की अपेक्षा की जाती है। घर सँभालना तथा उसी में लीन रहना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। अतः इधर देवयानी ने बी.ए. पास किया उधर उसका विवाह एक अच्छे परिवार के अशोक से हो गया, जो बी.टेक. तथा एम.बी.ए. की ऊँची डिग्रियाँ लेकर एक विख्यात मल्टीनेशनल कंपनी में ऊँचे पद पर था।

कुछ दिनों पश्चात् जब अशोक ने उसे बी.एड. करने के लिए कहा तो वह बहुत प्रसन्न हुई। कितना चाहता था वह उसे! लेकिन जब वह अपनी सहेलियों के पतियों को उनके नाज़-नख़रे उठाते देखती तो उसे बड़ी ईर्ष्या होती। काश कभी उसके मन-मंदिर का देवता भी उस पर इसी प्रकार प्रेम लुटाता, क्योंकि अशोक ने उसके और अपने बीच सदा एक फ़ासला-सा रखा था। अत्यंत भावुक क्षणों में भी एक अनदेखी-सी खाई उनके बीच बनी रहती थी, जिसे लाख प्रयास करने पर भी देवयानी न समझ सकी थी न पार सकी थी। ऐसे विचार जब उसे घेरते तो उसका मन विचलित हो उठता परंतु यह सोच कर वह फिर संतुष्ट हो जाती कि शायद अशोक के प्यार में छिछलापन नहीं। वह सागर की भाँति गहरा, शांत और विशाल है।

देवयानी ने बी.एड. कर लिया मगर जब अशोक ने उसे दो वर्ष के फ़ैशन डिज़ाइनिंग डिप्लोमा का फ़ार्म लाकर दिया तो वह बौखला उठी। अब इस सिलसिले से उसका मन उब गया था। वह अपनी गृहस्थी को सजाने-सँवारने में अधिक समय व्यतीत करना चाहती थी। उसकी सब से बड़ी मनोकामना भी तो लगातार टलती जा रही थी। अशोक नहीं चाहता था कि पढ़ाई के बीच उस पर कोई अन्य बोझ पड़े। अतः जब आशा की पहली किरण जगमगाने वाली थी तो दिल पर पत्थर रख कर उसे बुझा देना पड़ा। उसने

संपर्क : मो. 9899496025, ई-मेल : nashataslam@gmail.com

अशोक को समझाने की हर संभव कोशिश की परंतु बुद्धि की दलीलों के समाने भावनाओं को हार माननी ही पड़ती है। विवश होकर देवयानी ने यह तकनीकी कोर्स भी कर ही लिया और चैन की साँस ली। सितारों भरी एक हसीन रात थी। सुहानी हवाएँ बहारों के आने का संदेशा दे रही थीं। खाने के पश्चात् देवयानी किचन में कॉफ़ी बना रही थी। प्यालियों की खनक के साथ उसके गुनगुनाने की आवाज़ भी आ रही थी। वह कॉफ़ी लेकर अंदर आई और अशोक को नाइट गाउन पहने देख कर बड़ी चंचलता से बोली, "क्या बात है? अभी से सोने की तैयारी?" लेकिन आज वह हर दिन की तुलना में कुछ अधिक ही गंभीर नज़र आ रहा था। देवयानी की उमंग एवं शोख़ी मंद पड़ गई। वह चुपचाप कुर्सी पर बैठ गई। अशोक ने कॉफ़ी के मग के नीले किनारों को छूते हुए कहा, "देवयानी! आज मैं तुम से एक विशेष समस्या पर बात करना चाहता हूँ बुरा तो नहीं मानोगी?" "अब कह भी डालो"। कुछ संकोच के बाद वह बोला, "अब तुम्हारे पास एक टेक्निकल डिग्री है, यदि चाहो तो कोई अच्छी नौकरी आसानी से मिल सकती है"।

अगले पल आने वाले तूफ़ान से अनजान देवयानी मुस्कुराती हुई बोली, "आज ये अचानक विचार कैसे आया"? अशोक कुछ देर तक चुप रहा फिर बाहर की ओर देखता हुआ कहने लगा, "देखो आज मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि पत्नी के रूप में तुम मेरे आदर्श पर पूरी नहीं उतरती, मैंने तो कुछ और ही सपने सजाए थे और उन्हें पूरा करना कुछ कठिन भी नहीं लेकिन हमारे बड़ों ने बहुत जल्दी ये निर्णय कर डाला। यदि मैं चाहता तो इस बंधन को पहले ही तोड़ देता किंतु मेरे विचार से मनुष्य को हर हाल में यर्थाथवादी होना चाहिए। तुम्हारी उच्च शिक्षा और संतान न होने का असली कारण यही था। अब तुम अधिक क्वालीफ़ाइड भी हो और पहले की भाँति स्वतंत्र भी"।

देवयानी की समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे। अशोक उठता हुआ बोला, "हम शांति से अपनी राहें अलग कर लें। यही उचित रहेगा ताकि भविष्य में भी अच्छे दोस्तों की भाँति मिलते रहें। तलाक एवं नौकरी से संबंधित काग़ज़ात तुम्हें जल्दी ही मिल जाएँगे"। उसने एक उचटती-सी दृष्टि उसके हताश चेहरे पर डाली और बेडरुम की ओर बढ़ गया।

इस आकस्मिक सदमे ने देवयानी को जैसे गूँगा कर दिया। उसके हृदय और मस्तिष्क में आँधियाँ चल रही थीं। सारी चीज़ें धुँधली-सी पड़ गई थीं। कमरे का आकार-प्रकार टेढ़ा-मेढ़ा होकर डोल रहा था। उसका जी चाहा कि चीख़ पड़े, अशोक! तुम सचमुच बड़े विशाल हृदय वाले हो, परंतु मुझे भी तो कुछ कहने का अवसर दिया होता? पलक झपकते में तुमने मेरे संसार को जला कर राख कर डाला, क्यों किस कसूर की सज़ा में?

लेकिन वहाँ कुछ कहने-सुनने की गुंजाइश ही कहाँ थी! देवयानी का डूबता हुआ मस्तिष्क अँधेरे में खो गया। कृष्ण पक्ष की अमावस्या का परदा हटा कर जब सूर्य ने झाँका तो धूप के एक टुकड़े ने पूरे कमरे को उज्ज्वल कर दिया। देवयानी कुर्सी से उठ खड़ी हुई। उसे पूरी देह में अकड़न-सी महसूस हो रही थी। मन बोझिल था और आँखों में ऐसी जलन हो रही थी मानो किसी ने मिर्च भर दी हो।

उसने अपने सारे कागज़ात एवं डिग्रियाँ इकट्ठा किया। सहसा उसकी दृष्टि मेज़ पर पड़ी। एक बड़ा-सा लिफ़ाफ़ा रखा था जिस पर उसका नाम लिखा था। उसने इसे खोलने का कष्ट नहीं किया, तलाक़ के ही काग़ज़ात होंगे। एक के बाद एक उसने अपनी उन डिग्रियों को फाड़ डाला जो उसने अशोक के प्रोत्साहन के पश्चात् हासिल की थी। लिफ़ाफ़े के चार टुकड़े किए, सबको समेट कर एक बड़े रजिस्टर के नीचे डाल दिया। घर में सन्नाटा था। शायद अशोक दफ़्तर जा चुका था। अब्दुल काका बाहर गमले में पानी डाल रहे थे वह एक सूटकेस लेकर बाहर निकल गई जिसमें कुछ कपड़े और ज़रूरी चीज़ों के सिवा कुछ न था। काका उसे आश्चर्य से देखते रह गए।

सब कुछ लुटा देने के पश्चात् उसके मन ने यह गँवारा नहीं किया कि भाई-बहन से आश्रय की प्रार्थना करे। माता-पिता कब के स्वर्गवासी हो चुके थे। वह अपनी प्रिय सहेली वीणा के पास चली गई। कभी वह स्वयं को वीणा से अधिक सौभाग्यशाली समझती थी परंतु समय ने आज उसे कितना हीन और तुच्छ बना दिया था! वीणा के पास सब कुछ था। सुंदरता, धन, चाहने वाला पति, प्यारे-प्यारे बच्चे, एक सुखी, हँसती खिलखिलाती गृहस्थी, आख़िर उसका क्या दोष था?

वीणा ने उसे लाख समझाया कि अशोक के विरुद्ध अदालती कार्यवाही की जा सकती है लेकिन उसने साफ़ इन्कार कर दिया। जब वह किसी का मन ही न जीत सकी तो पैसों की प्राप्ति के लिए क्या झगड़ना। वह आहत अवश्य थी, कोई निश्चित भविष्य भी सामने नहीं था। मगर उसका आत्मसम्मान पहले से भी अधिक सशक्त हो उठा था। उसकी आत्मनिर्भरता ही थी जो वह सारी किश्तियों को जला कर आई थी और अत्यंत संतुष्ट थी। उसकी उच्च शिक्षा अशोक की दी हुई भीख थी जिसे वह उसके पास ही छोड़ आई थी परंतु जीने के लिए कुछ न कुछ करना ही था। कभी शौक में आकर पत्तों एवं तिनकों से गुड़िया और खिलौने बनाने सीखे थे और इस कला में वह निपुण भी हो गई थी लेकिन उस समय किसे पता था कि यही सूखे तिनके उसका भाग्य बन चुके हैं।

एक मुद्दत बीत चुकी थी। देवयानी रात-दिन सिर झुकाए अपने कार्य में व्यस्त रहती। अब वह एक प्रसिद्ध कलाकार थी जिसके पास कई कंपनियों के आर्डर के अलावा विदेशी पर्यटकों की फ़रमाइशों के ढेर लगे रहते। कई बार वह विदेशों की यात्रा पर भी जा चुकी थी। सुख-संपदा और धन प्रचुर मात्रा में उसके पास थे परंतु मन का कोमल फूल मुर्झाने के पश्चात् पुनः नहीं खिलता। एक अनजानी-सी वेदना उसे भेदती रहती। जीवन का यह अनचाहा ठहराव यह सूनापन उसे मानसिक तौर पर करुण बनाता रहता। संसार से उसकी रुचि समाप्त हो गई थी। लगाव था तो केवल अपने कार्य से जिसमें उसे वही अधिकार प्राप्त था जो शास्त्रीय संगीत के विशेषज्ञों को अपनी कला में होता है।

कुछ दिनों पहले उसे यह समाचार मिला था कि किसी आयात-निर्यात कंपनी का मैनेजिंग डायरेक्टर उसके नमूने देखने हेतु आने वाला है। जब वह आया तो उसे देखकर देवयानी का हृदय जैसे सीने में रुकने-सा लगा। यह तो अशोक था, शत-प्रतिशत वही। बढ़ती हुई उम्र ने देह को तनिक भारी कर दिया था। कनपटियों पर उजले बालों के कारण उसका व्यक्तित्व और भी प्रभावशाली लग रहा था। देवयानी को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे अगले ही क्षण उसका अस्तित्व बूँद-बूँद होकर आँसुओं में बह जाने वाला है परंतु उसने अपनी भावनाओं पर विजय पा ली।

वह देर तक उसकी कलाकृतियाँ देखता रहा। कुछ औपचारिक प्रश्न पूछे और आवश्यक बातें नोट करके चला गया। देवयानी ने इत्मीनान की साँस ली कि नाम के बावजूद भी अशोक ने उसे पहचाना नहीं किंतु उसके दृष्टि से ओझल होते ही उसके वर्षों

के धैर्य का बाँध टूट गया। मेज़ों पर पड़े अधबने गुलदस्तों एवं खिलौनों को उसने तोड़-मरोड़ कर नीचे फेंक दिया। पत्तों को बिखेर डाला और शोकेस में सजी अन्य कलाकृतियों को फ़र्श पर पटकने लगी। सहसा उसके हाथ में अपनी ही बनाई हुई गौतम बुद्ध की मूर्ति आ गई और एक ही पल में उसका हाथ थम गया।

जैसे भड़कते हुए शोलों पर पानी की शीतल धार पड़ जाए, उसने आदरपूर्वक प्रतिमा को वापस उसके स्थान पर रखा और मेज़ पर सिर रख कर फूट-फूट कर रो पड़ी। मन का गुबार न जाने कब तक घुलता रहता लेकिन बाहर वर्षा शुरू हो गई थी। बादलों की गरज और बिजली की चमकदार कड़क के साथ-साथ पानी के छींटे उस के मुँह पर पड़े। मजबूर होकर उसे उठना ही पड़ा। दरीचों के पट बंद करके परदों को बराकर कर रही थी कि कॉल बैल धीरे से बजी। वह चौंक उठी, इतनी रात गए भला कौन हो सकता है? उसने मैजिक आई से बाहर झाँका। अशोक खड़ा भीगता दिखाई दिया। दिल की तेज़ धड़कनों के साथ उसने द्वार खोल दिए। वह बिना अनुमति लिए अंदर आ गया। "इतनी रात गए कष्ट करने का कारण जान सकती हूँ?" देवयानी ने फीकी मुस्कान के साथ पूछा।

"क्या तुम मुझे क्षमा नहीं करोगी?" उत्तर देने की बजाय उसने उल्टा प्रश्न किया और अपना रेनकोट उतारने लगा। "बड़ा ही घिसा-पिटा प्रश्न किया है तुमने कुछ और बात करो" देवयानी अब तक खड़ी ही थी।

"वैसे तुमने यह क्या मूर्खता की थी?" वह उसके चेहरे की भावनाओं को पढ़ने की कोशिश करता हुआ बोला, "कैसी मूर्खता मैं समझी नहीं?" "यही अपनी सारी डिग्रियों आदि को फाड़ डालना और इस मुसीबत में अपनी जान खपाना। तुम इतनी अच्छी कलाकार भी हो, यह तो अब मालूम हुआ।" "आभारी हूँ तुम्हारी अशोक जो तुमने मेरे छुपे हुए गुणों को उजागर होने का अवसर प्रदान किया। मुझे मेरी पहचान दे दी, वरना अभी तक मैं वही दुर्बल देवयानी बनी रहती जिसे प्रत्येक क्षण तुम्हारी चाहत की आवश्यकता थी, जिसे हर पल तुम्हारे कदमों की आहट की प्रतीक्षा रहती थी, जिसे तन्हाइयों में भी तुम्हारे स्पर्श का एहसास घेरे रहता था। ख़ैर इन बातों को छोड़ो, यह बताओ इस समय आने का उद्देश्य क्या है?"

देवयानी ने बात बदलते हुए पूछा क्योंकि उसे ऐसा लग रहा था जैसे वह भावुकता में कुछ अनुचित बातें कह गई है। अशोक कुछ सकपका कर पहलू बदलने लगा। कहीं दूर आशाओं के दीप जलने-बुझने लगे। वह स्वयं को सँभालता हुआ बोला, "तुम्हें एक कृपा करनी है मुझ पर। मुझे आदर्श पत्नी की तलाश थी, वह तो मिल गई परंतु जीवन का वास्तविक सुख मुझसे दूर ही रहा। ज्योति न केवल अत्यंत स्वार्थी बल्कि अहंकारी भी थी। मेरा और उसका झगड़ा हनीमून से ही शुरू हो गया था। एक वर्ष में ही मैंने इतनी यातनाएँ झेली कि उसकी कल्पना से ही भयभीत हो उठता हूँ। ज्योति ने मुझ पर घरेलू हिंसा, दहेज, उत्पीड़न तथा अन्य सारी धाराओं के अंतर्गत केस कर दिया। कुछ दिन तक तो बेकसूर होते हुए भी मुझे लॉक-अप में रहना पड़ा।"

"फिर उसके बाद?" देवयानी ने पूछा!

"फिर क्या, अपनी मेहनत की कमाई की मोटी रकम देकर जान छुड़ानी पड़ी। शायद तुम्हारी क़दर न करने का ये दंड मुझे मिला।" अशोक जो असफलता एवं असंभव जैसे शब्दों से अनभिज्ञ था। आज पीड़ा तथा मायूसी की तस्वीर बना बैठा था।

देवयानी ने उसे पानी का गिलास पेश किया। पानी पीते हुए अशोक कहने लगा, "देवयानी! प्लीज़ भूल जाओ मेरी मूर्खता को। मेरा सारा आदर्शवाद झूठा और बनावटी था। मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूँ।"

"लेकिन ये सब मुझे बताने की क्या आवश्यकता है?" देवयानी ने बड़े शांत स्वर में पूछा। हालाँकि सब कुछ जानने की प्रबल इच्छा कल से ही उसके मन में उत्पन्न हो रही थी।

"मुझे फिर से उन्हीं खुशियों की भीख दे दो। मैं तुम्हारा अपराधी हूँ देवयानी। जो भी सज़ा देना चाहो दे लो, लेकिन मेरे आग्रह को ठुकराना मत। रात-दिन पश्चाताप की अग्नि में किस तरह जलता रहता हूँ कैसे बताऊँ तुम्हें?"

अशोक के बोलने की गति इतनी तीव्र थी मानो शब्द ख़्यालात का साथ न दे पा रहे हों।

देवयानी सोच रही थी कि कितनी संकीर्ण मनोवृत्ति है इस व्यक्ति की। भगवान ही जाने कि यह पछतावा है या कुछ और या कलिंग के भयंकर नरसंहार के पश्चात् महान अशोक अपने गुनाहों का प्रायश्चित करने चले आए थे। प्रायश्चित तो अवश्य हो गया था परंतु युद्ध में मारे गए लोगों को जीवनदान देना क्या उनके वश में था? देवयानी को जैसे दिशा मिल गई। बड़े शांत स्वर में बोली, "मुझे तुम से हमदर्दी है अशोक!"

"परंतु मुझे केवल हमदर्दी की नहीं बल्कि तुम्हारी आवश्यकता है। क्या सुबह का भूला शाम को वापस नहीं आ सकता?"

"यह शाम नहीं, रात का पिछला पहर है शायद।"

"ऐसा न कहो देवयानी! क्या निर्णय है तुम्हारा, जल्दी बताओ मुझे", वह व्याकुलता से उठ खड़ा हुआ। "जीवन के इतने महत्वपूर्ण निर्णय क्षणों में तो नहीं लिए जा सकते। आधी रात बीत चुकी है अब तुम घर जाओ, कल शाम को मुझसे मिल लेना।"

अशोक उसकी भीगी आँखों को आशाभरी दृष्टि से देखता हुआ द्वार की ओर बढ़ा और जाते-जाते मुड़ कर बोला, "मुझे तुम पर पूरा विश्वास है।"

अगले दिन वह शाम तक प्रतिक्षा न कर सका और तीसरे पहर ही वहाँ जा पहुँचा। देवयानी घर पर नहीं थी। मन बेचैन होने लगा। थोड़ी देर में एक दुबले-पतले लड़के ने आकर पूछा, "आप ही अशोक साहब हैं?" और उत्तर का इंतज़ार किए बिना उसके हाथ में एक पैकेट थमा कर चल दिया। अशोक ने धड़कते दिल से उसे खोला। पत्तों एवं तिनकों की बनी हुई एक अत्यंत सुंदर कलात्मक गुड़िया थी और देवयानी का एक पत्र।

अशोक!

"मुझे तुमसे सचमुच सहानुभूति है। इतने प्रयास पर भी तुम्हारी महत्वकाक्षाएँ पूरी न हो सकीं लेकिन परिस्थितियों के तूफ़ान ने मुझे इतने थपेड़े लगाए हैं कि जीवन मेरा होकर भी मेरा नहीं रहा। छिन चुकी हूँ शायद अपने-आप से भी। ज़िंदगी की सारी उमंग, सारी भावनाएँ उसी समय जल कर राख हो गई थीं। जब तुमने अपनी राहें मेरी राहों से अलग कर ली थीं। अब तो ऐसा अनुभव होता है कि सदियों से अकेली चल रही हूँ और चारों ओर शुष्क पत्ते बिखरे पड़े हैं। मेरी कलाकृतियाँ तुम अपनी फ़र्म के लिए ले जा सकते हो। यह गुड़िया तुम्हारे लिए विशेष भेंट है। अशोक! अब मैं भी इसी गुड़िया की भाँति हूँ शुष्क और निर्जीव। यदि तुम्हें मेरी आवश्यकता है तो सदैव इसे अपने पास रखना। शायद इस प्रकार मेरी वह इच्छा जो मनुष्य बन कर पूरी न हो सकी, गुड़िया के रूप में पूरी हो जाए।"

अशोक के हाथों से पत्र छूट कर नीचे गिर पड़ा। वह फटी-फटी दृष्टि से गुड़िया को ताकता रह गया। ❑

● श्रद्धांजलि



ज़िंदगी कैसी है पहेली

नीलांशु रंजन

जी हाँ, ज़िंदगी खेल है लम्हात का....वाक़िआत का...। ज़िंदगी एक पहेली ही तो है....अनबूझ....। कौन समझ पाया है इस ज़िंदगी को जहाँ इतने मोड़ हैं, इतने उतार-चढ़ाव हैं, इतने पड़ाव हैं और मंज़िल....शायद मंज़िल का तो पता ही नहीं....न जाने किस मोड़ से और कई मोड़ आ जाएँ। इसलिए तो गीतकार योगेश गौड़ यानी योगेश ने जब फ़िल्म 'आनंद' के लिए जब यह गाना लिखा, 'ज़िंदगी कैसी है पहेली हाय, कभी ये रुलाये कभी ये हँसाए' तो इस गीत ने न सिर्फ़ फ़िल्म निर्माताओं, संगीतकारों का ध्यान खींचा, बल्कि आम-अवाम को भी बरबस चौंकाया और योगेश की ओर देखने को विवश किया। ज़िंदगी का फ़लसफ़ा योगेश ने इस गीत के ज़रिए बख़ूबी दर्शाया है और इसी गीत के बाद योगेश को फ़िल्मी दुनिया में एक पहचान मिली, एक पायदारी मिली और यह गीत उनकी ज़िंदगी में मील का पत्थर साबित हुआ। जहाँ शकील बदायूँनी, मजरूह सुल्तानपुरी, हसरत जयपुरी, शैलेंद्र गुलज़ार जैसे गीतकारों-शायरों की एक बड़ी जमात थी और वे सारे के सारे मुंबई की फ़िल्मी दुनिया में सितारों की तरह चमक रहे थे, वैसे में लखनऊ से गए एक साधारण युवक का मुंबई में पहचान बनाना कोई मज़ाक नहीं था। मुंबई मायानगरी और नाकामियों का रिश्ता कुछ ऐसा है जहाँ अच्छे-अच्छों के आत्मविश्वास टूट जाते हैं।



अपने पिता के आकस्मिक निधन के बाद योगेश गए तो थे बंबई यानी आज के मुंबई एक साधारण नौकरी की तलाश में। परिवार की पूरी ज़िम्मेदारी उन पर आ गई थी लेकिन क़िस्मत को तो कुछ और ही मंजूर था और योगेश ने भी बार-बार कहा है कि ये उनकी डेस्टिनी ही थी कि गीतों की दुनिया में वह उन्हें ले आई। जब उनके अपने फुफेरे भाई, जो उस वक़्त के सफ़ल फ़िल्म लेखक थे, जब उन्होंने योगेश की कोई मदद नहीं की तो उस वक़्त उस कठिन घड़ी में उनके साथ खड़ा रहा उनके बचपन का दोस्त सत्यप्रकाश तिवारी जो लखनऊ से उनके साथ आया था। जब उनके फुफेरे भाई ने कुछ ध्यान नहीं दिया तो उनके दोस्त सत्यप्रकाश तिवारी, जिसे वे प्यार से सत्तु कहते थे, ने उन्हें फ़िल्म में काम करने को न सिर्फ़ प्रेरित किया बल्कि एक तरह से फ़रमान जारी कर दिया कि जैसे और जिस हैसियत से भी हो, तुम्हें फ़िल्म से ही जुड़ना है। मुंबई का ख़र्च उठाने के लिए और योगेश को मुंबई में टिकाए रखने के लिए सत्तु ने एक ऑफ़िस में चपरासी का काम शुरू किया। योगेश ने कई बार साक्षात्कार में कहा था कि वे चार रोटियाँ बाँधकर निकल जाते थे मुंबई की सड़कों पर ख़ाक छानने के लिए लेकिन कुछ हो नहीं रहा था। तब वे अकेले अपनी किराए की झोपड़ी में बैठे रहते थे और अपने दर्द को, अपनी एकांत की पीड़ा को डायरी में दर्ज करते रहते थे। जब दोस्त सत्तु को उन्होंने अपनी कविताएँ दिखाईं तो उन्होंने उन्हें प्रेरित किया फ़िल्म संगीतकारों से मिलने के लिए।

यहाँ से आग़ाज़ हुआ फ़िल्म संगीतकारों के घरों व दफ़्तरों के चक्कर लगाने का लेकिन सफ़र इतना आसान कहाँ था! बहुत संगीतकरों का चक्कर लगाने के बाद उस समय के एक संगीतकार रॉबिन बनर्जी ने उन्हें मौक़ा दिया फ़िल्म 'सखी रॉबिन' में जिसके लिए फ़िल्म निर्माता ने उन्हें छह गाने के डेढ़ सौ रुपये दिए। 'सखी रॉबिन' में उन्होंने एक गीत लिखा, 'तुम जो आओ तो प्यार आ जाए, ज़िंदगी में बहार आ जाए।' लेकिन न वह फ़िल्म चर्चा में आई और न ही उस फ़िल्म के गाने। हालाँकि वह गाना मन्ना डे और सुमन कल्याणपुर के गाए हुए थे। कुछ छोटे बजट की स्टंट फ़िल्मों के लिए भी उन्होंने लिखा लेकिन बात बन नहीं पाई और उन बड़े गीतकारों के बीच योगेश कहीं गुमनामी में खो गए। हार कर वे लखनऊ वापस हो गए। कुछ दिनों के बाद फिर किसी ने उन्हें बुलाया और इस बार क़िस्मत

पृष्ठ 56 पर जारी...

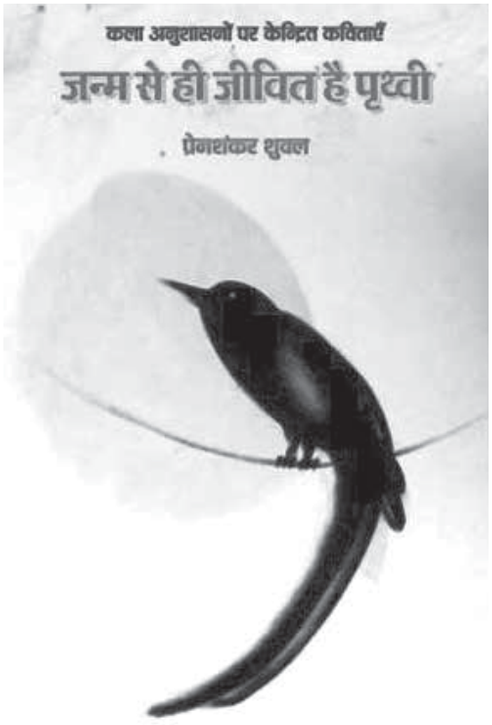
संपर्क : मो. 9661862653, ई-मेल : nilanshuranjan@gmail.com



साधारण की असाधारणता की महिमा

पंकज चौधरी

विश्वकवि रविंद्रनाथ टैगोर ने एक बार कहा था, "भारतीय इतिहास के जो नायक रहे हैं, उन पर तो बहुत लिखा गया है, लेकिन उन नायकों के निर्माण में अपना सब कुछ होम कर देने वाली उनकी जो पत्नियाँ रही हैं वे उपेक्षित रह गई हैं।" टैगोर ने कवियों और लेखकों से अनुरोध किया कि वे उन उपेक्षित नायक पत्नियों पर भी कलम चलाएँ, जिनके बग़ैर हम उनके पतियों के नायक बनने की कल्पना भी नहीं कर सकते। देखा गया कि टैगोर के इस अनुरोध या अपील का भारत की सभी भाषाओं के कवियों और लेखकों पर ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा और कवियों और लेखकों ने नायकों की पत्नियों पर ससम्मान लिखना शुरू किया। इस सिलसिले में हिन्दी कवि मैथिलीशरण गुप्त का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने उर्मिला, यशोधरा आदि पर कविताओं की रचना की।



हरेक भाषा में रचनाकारों का इस ओर प्रभूत ध्यान गया और उन्होंने खूब लिखा। लेकिन यहाँ इस बात का भी उल्लेख करना ज़रूरी है कि अभी तक सगुण धारा के नायकों की पत्नियों पर ही लिखा गया है। निर्गुण धारा के कवियों की पत्नियाँ अभी भी ओझल हैं। भारतीय इतिहास में प्राचीनकाल से ही दो धाराएँ दृश्यमान रही हैं—सगुण और निर्गुण। सगुण की ओर सभी का ध्यान जाता रहा है, क्योंकि वह सत्ता की धारा रही है। निर्गुण की ओर लोगों का सायास ध्यान नहीं जाता, क्योंकि एक तो वह असुविधाजनक है और दूसरी ओर उसके पास समाज, राजनीति और अर्थ की भी सत्ता नहीं होती। निर्गुण धारा को लोग ख़तरनाक मानते हैं, क्योंकि उसमें सब कुछ जलने और डूबने की आशंका रहती है लेकिन इतिहास में ऐसे बहादुर लोगों की कमी नहीं रही है जिन्होंने यह सब कुछ जानते हुए भी अपना घर जलाया और निकल पड़े कबीर की तरह हाथ में लुकाठी लेकर समाज और देशकाल की रक्षा की ख़ातिर। कालांतर में इतिहास और समाज के असली नायक यही बनकर उभरे।

रैदास और कबीर जैसे लोग इसी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह अकारण नहीं है कि ये दोनों महान कवि आज के दौर में सबसे ज़्यादा प्रासंगिक हुए। सब जगह इसलिए समादृत और महत्वपूर्ण हो रहे हैं, क्योंकि लोगों ने इन्हें देर से ही सही लेकिन समझना शुरू कर दिया है। लोना और लोई इन्हीं महानायकों की पत्नियाँ थीं। इनके नाम से तो लगभग हम सभी परिचित हैं लेकिन अपने पतियों को इतना महान बनाने में इनका कितना बड़ा योगदान है, उससे हम अनभिज्ञ हैं। लोना-लोई जिन्होंने रैदास और कबीर को महान बनाया, खुद कितनी असाधारण रही होंगी, इसकी हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं। लोना-लोई जैसी असाधारण नायक पत्नियों पर हिन्दी में पहली बार अगर किसी का ध्यान गया है, तो वह हैं समकालीन हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण और प्रतिभाशाली कवि प्रेमशंकर शुक्ल। प्रेमशंकर शुक्ल लोना-लोई को अत्यंत सम्मान के साथ याद करते हुए लिखते हैं-

'हमारे पुरखे कवि रैदास और
कबीर का जीवन / प्रकट का है,
अप्रकट हैं लोना-लोई / जैसे अपना
सारा उजाला अपने कविपतियों को सौंप
/ अपने हिस्से रखा घर-गृहस्थी की
मेहनत और सूझ-बूझ।'

सवाल यहाँ यह भी पैदा होता है कि जिस लोना-लोई ने अपना सब कुछ न्यौछावर करके रैदास और कबीर जैसे महापुरुषों का निर्माण किया, आख़िरकार उन पर मुख्यधारा के कवियों को तो छोड़िए तथाकथित दलित-बहुजन कवियों और लेखकों का भी ध्यान क्यों नहीं गया? इसका उत्तर यही है कि स्त्रियाँ कहीं की भी क्यों न हों, उनको उपेक्षा ही मिलती है लेकिन सामाजिक न्याय, आधुनिक और प्रगतिशील मूल्यों के जो पक्षधर रहे हैं वे सबको समान सम्मान और आदर के दृष्टिकोण से देखते

संपर्क : मो. 9910744984, ई-मेल : pkchaudhary@gmail.com

हैं और उनका मूल्यांकन करते हैं। परिवार, समाज और राष्ट्र के उन्नयन में उनके दाय और योगदान को वे सबके सामने लाने का पुनित कार्य करते हैं।

प्रेमशंकर शुक्ल एक ऐसे कवि हैं, जो लोना-लोई को भी उनका वाजिब सम्मान देना जानते हैं, जो अन्य नायक पत्नियों को मिलता रहा है-

'लोना-लोई के कृतज्ञ स्मरण से / फैलता है कविता की भाषा के कैनवस पर अंजोर / और बढ़ती है दिन दूना रात चौगुनी
रैदास और कबीर के पदों की जीवन में सुगंध।'

लोना-लोई प्रतीक हैं उन असंख्य उपेक्षित नायक पत्नियों की, जिन्होंने अपने जीवन में विकट अभाव, विडंबनाएँ, क्रूरताएँ सहकर और झेलकर भी अपने पतियों को इतिहास का नायक बनाया। इसलिए कवि के मंतव्य को सिर्फ़ लोना-लोई तक सीमित करके नहीं देखना चाहिए। कवि लोना-लोई के बहाने तमाम उपेक्षित नायक पत्नियों की निर्मलता, जीवटता और असाधारणता को मान-सम्मान देते हैं-

'लोना-लोई ने भले सहा अपने जीवन में विकट अभाव / लेकिन कविता को दिया बड़ा अर्थ / और अथाह भाव / इसलिए लोना-लोई का जब मैं नाम पढ़ता हूँ / वागर्थ के सारे रकबे में / उजाला फैलना शुरू हो जाता है।'

प्रेमशंकर शुक्ल समकालीन हिन्दी कविता के एक ऐसे दुर्लभ कवि हैं जिनके कहन का अंदाज़ भी सबसे जुदा है। हिन्दी सहित दूसरी भाषाओं में भी ऐसा पॉज़िटिव और खुशमन कवि शायद ही दूसरा हो। प्रेमशंकर शुक्ल की अमूमन कविताएँ उल्लास, उत्साह, उमंग, तरंग और खुशमिज़ाजी की कविताएँ हैं। लोना-लोई जैसे पात्रों पर जब वे लिखने लगते हैं, तो इसका बखूबी ख़याल रखते हैं कि उनके जीवन के दुख-संताप का लेशमात्र भी कविता में प्रदर्शन नहीं होने पाए। भले ही रैदास और कबीर जैसे इतिहास पुरुषों की पत्नियों के नाते उन्हें भी दुर्निवार मुश्किलों का सामना क्यों नहीं करना पड़ा हो। ऐसा वे सायास करते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि कविता और भाषा की सेहत के लिहाज़ से ऐसा करना उचित नहीं-

'विडंबनाएँ, क्रूरताएँ कम न थीं उस समय भी / लोना-लोई ने जो सहा पीड़ा-अपमान / उनका ज़िक्र नहीं करूँगा कविता में / इससे वाक्यों के रूह में भर जाता है खारापन / और भाषा की आत्मा में उठती है गहरी टीस।'

प्रेमशंकर शुक्ल ने कविता की इन पंक्तियों के माध्यम से नहीं चाहते हुए भी आज से पाँच-सौ छह साल पहले की तमाम क्रूरताओं, अन्यायों, त्रासदियों को अपनी समग्रता और मुकम्मल तरीके से अभिव्यक्त कर दिया है। 'लोना-लोई' कविता हिन्दी कविता की अमूल्य निधि बन गई है।

जैसा कि मैंने पहले ही कहा है कि प्रेमशंकर शुक्ल एक खुशमन कवि हैं, वे जैसे दुखी होना ही नहीं जानते। आँसू का एक भी क़तरा उनके शब्दकोश में नहीं है। वे दुख, पीड़ा, अभाव में भी सुख और खुशी को खोज लेते हैं-

'भाव से भरा हुआ महावर अभाव का आभूषण है / नहीं होता ज़ेवर-गहना / तो हमारे छोटे-छोटे घरों की औरतें / महावर से ही कर लेती हैं अपना साज-सिंगार।'

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए कहना पड़ेगा कि भारत के 80 प्रतिशत से अधिक लोग जो अभाव का जीवन जीने को मजबूर हैं, उनको ये पंक्तियाँ संजीवनी प्रदान करने का काम करती हैं। उनको जीने की राह से अवगत कराती हैं। उन्हीं के बीच बिखरे हुए साज़ो-सामान को ढूँढकर। कस्तूरी को खोजने में प्रेमशंकर शुक्ल को महारत हासिल है। आम लोगों के कवि की यह पहचान होती है कि वह आम लोगों के साथ कहाँ-कहाँ और कितनी दूर तक चलते हैं। प्रेमशंकर शुक्ल की संवेदना तथा करुणा हमें इस बात का प्रमाण देते चलती है कि वे जनता-जनार्दन के सुख-दुख से सराबोर और आप्लावित हैं-

'स्त्री और धरती जुड़वाँ हैं / फूल, पत्ती, बेलें धरती के महावर मन से ही फूटते हैं / लोक के उत्सव मुश्किलों से जूझने के सच्चे औज़ार हैं / और मन की ऊर्जा के समूह।'

समकालीन कविता में इक्के-दुक्के अपवादों को यदि छोड़ दिया जाए तो वहाँ से 'लोक' लगभग नदारद है जबकि सारा कुछ हम लोक से ही ग्रहण करते चलते हैं। हम यह भी भूल जाते हैं कि हमारा शिराजा भी लोक से ही बुलंद हुआ है। प्रेमशंकर शुक्ल पूरी विनम्रता और कृतज्ञता से लोक का स्मरण कराते हैं-

'सुंदरता के लिए वाक्य व्यय करते / मुझे हमेशा लगता है कि / प्रेम कविताएँ / भाषा के प्रेम के महावर से ही / अपना होना शुरू करती हैं।'

प्रेमशंकर लोकगायक हैं। लोक की छवियों-छटाओं को निहारते हुए वे मंत्रमुग्ध लगते हैं। उनकी आत्मा लोक में बसती है और उनका कवि लोक को देखकर खिलता है। वह प्रस्फुटित होता है। लोक की याद, स्मरणमात्र से ही कवि के रोम-रोम में स्फुरण पैदा होता है-

'काज-बियाह, उत्सव प्रयोजन में / महावर लगाती हैं जब औरतें / बंजर होने से बच जाता है हमारी धरती का पाँव।'

कवि आविष्कारक होता है। वह दृश्यों और स्मृतियों में कल्पना के पंख लगाकर नई-नई चीज़ों का उद्घाटन करता है जिसे पढ़कर-सुनकर हम चकित होते हैं कि कवि ने जिन महत्वों से हमारा साक्षात्कार कराया है, उनसे हम कितने अनभिज्ञ और अनजान थे। इसके बावजूद जो कवि के बताए महत्व से इनकार करता है, कवि उसको फटकारता भी है लेकिन कवि प्रेमशंकर शुक्ल की फटकार बड़ी ही प्यारी और शोख होती है। प्रेमशंकर जी की यही विशिष्टता है-

'उत्सव के कल्पवृक्ष को अपने पसीने से सींचते / हमारे जनपदों की देहरी में बहुत रंग हैं / तंग हैं जिनकी निगाहें / पाँव के महावर के फूल की महक / उनके फेफड़े में उतारती नहीं अपना रंग।'

प्रेमशंकर शुक्ल लोक में जब विचरण कर रहे होते हैं, तो उनका कवि मन पूरी तरह खुलता है। वह प्रकट होता है। ऐसा बहुत कम कवियों के साथ होता है, जिसमें अपने कवि से कविता सब कुछ कहलवा लेती है-

'बाँसुरी चरवाहों का सिरजा वाद्य है / मुग्ध रहते हैं जिस पर झरने, जंगल-नदियाँ / बाँसुरी बजाना हवा के फेफड़े में / संगीत भरना है।'

'कविता में बाँसुरी बजाना हवा के फेफड़े में संगीत भरना है', जैसे सत्य को वही उद्घाटित कर सकता है जो संगीत का मर्मज्ञ होगा। संवेदित मन जिस कला अनुशासन से सबसे ज़्यादा प्रभावित और तरल होता है, तो वह है संगीत। संगीत से जो प्रभावित और जागृत होता है, मेरा ख़याल है कि सत्य की खोज

या अन्वेषण वही कर सकता है। प्रेमशंकर शुक्ल यदि कहते हैं कि बाँसुरी चरवाहों का सिरजा वाद्य है, तो ग़लत नहीं कहते हैं। क्योंकि झरनों, जंगलों और नदियों के पास तो पहले चरवाहे ही पहुँचे होंगे अपनी गायों को लेकर। चरवाहों ने ही पहले-पहल बाँस से बाँसुरी बनाया होगा। और बाँसुरी बजाकर झरनों, जंगलों और नदियों को मुग्ध किया होगा। आज भी जब हम खेतों, जंगलों और नदियों के आस-पास पहुँचते हैं और वहाँ किसी चरवाहे, फ़सलों-खेतों की रखवाली करने वाले रखवारे की बाँसुरी पर छेड़े गए तान को सुनने लगते हैं तो जैसे हम अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं। प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। वैसे भी संगीत के जो राग हैं, वे लोक से ही तो लिए और विकसित किए गए हैं।

संगीत प्रेमशंकर शुक्ल की कविताओं से छलकता है। संगीत प्रेम ही क्यों, कला के सारे अनुशासनों के प्रति उनकी अनुरक्ति देखते ही बनती है। कला अनुशासनों के भीतर उनकी जिस तरह से आवाजाही होती है उससे पता चलता है कि सभी कला अनुशासन एक-दूसरे के पूरक हैं। वे इतने पारस्परिक हैं कि एक का दूसरे के बग़ैर कोई वजूद नहीं। प्रेमशंकर शुक्ल की कविताओं को पढ़ते हुए शिद्दत से अहसास होता है कि हम कोई चलचित्र देख रहे हैं। ग़ौरतलब है कि चलचित्र एक ऐसा आविष्कार है, जिसमें कला के सारे अनुशासनों का प्रयोग हो जाता है। कविता, कहानी, नाटक, चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि-आदि-

'सुषिर का चमत्कार है बाँसुरी / आत्मा का राधा-प्रेम एक चरवाहे ने / बाँसुरी पर ही बजाया था / जिसे सुनकर गोवें भी अनकती खड़ी हो गई थीं।'

उपरोक्त पंक्तियाँ कविता के साथ-साथ एक कथा भी कह जाती हैं। कविता कथा के साथ-साथ एक सुंदर चित्र भी आँखों के सामने तैरने लगता है। उससे संगीत का सोता फूटता जान पड़ता है और चरवाहे की बाँसुरी की तान पर पूरी प्रकृति नाचती प्रतीत होती है।

प्रेमशंकर शुक्ल वहाँ पहुँचने को प्राथमिकता देते हैं, जहाँ तक आम लोगों की पहुँच हो सकती है। वे आम लोगों से न तो कभी दूर गए हैं और न ही जा पाएँगे। यह अकारण नहीं है कि चरवाहों को यदि बाँसुरी प्रिय है और संन्यासियों, फ़क़ीरों को इकतारा, तो कवि प्रेमशंकर शुक्ल को भी बाँसुरी और इकतारा से ही लगाव और प्यार है। कवि बाँसुरी और इकतारा से ही इस संसार को जानना और समझना चाहता है और उसके रहस्य, भेद का भी प्रकटीकरण करता है-

'कथा में जहाँ श्रवण कुमार को लगता है। / दशरथ का तीर।
मूर्छित हो गया है वहीं इकतारा। / और फूट नहीं रहे हैं तार-बोल। / कुछ देर की चुप्पी के बाद। / कथा के अनुरोध पर।
इकतारा आगे बढ़ाता है कथा। / जहाँ श्रवण के माता-पिता के शोक-संतप्त आँसू। / गा नहीं पा रहे हैं गायक। / और इकतारे के तार में भी। / उठ रही है लगातार रोने की हिचकी।'

कला और कलाकार भोक्ता को कैसे जीवंत करता है, इसकी मिसाल है 'इकतारा'। श्रवण कुमार और उसके माता-पिता की दुखांत कथा को इकतारे के ज़रिए कहना और फिर उसको कविता में जस की तस ढाल लेना कोई प्रेमशंकर शुक्ल से सीखे।

प्रेमशंकर शुक्ल के उल्लेख्य संग्रह 'जन्म से ही जीवित है पृथ्वी' में ऐसी अनेक कविताएँ हैं, जो कला अनुशासनों में पारस्परिकता का परिचय देती हैं। दूसरी ओर कला अनुशासनों की हमारी समझ को भी विकसित करने का काम करती हैं संग्रह की कविताएँ। एक श्रेष्ठ और उत्कृष्ट कविता के लिए अन्यान्य कला अनुशासनों की कितनी अहमियत है इस ओर भी इशारा करती चलती हैं इसकी कविताएँ।

(कृति : 'जन्म से ही जीवित है पृथ्वी'; कवि : प्रेमशंकर शुक्ल; प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर; मूल्य : 500 रुपये) ❑

अम्मा

पृष्ठ 32 से आगे

बड़े भोर उठ कर हम रेल से चल दिए, रास्ते भर मैं बेचैन और खोया-खोया रहा। चलती गाड़ी में मुझे बहुत कुछ याद आता रहा। अम्मा एकदम युवा ही रही होंगी तब हुई पिता की मृत्यु, घर में आई आर्थिक विपन्नता, ख़ानदान वालों और घरवालों का असहयोग, अम्मा का मुझसे ख़ास लगाव, मेरे पढ़ने हेतु बाहर जाने पर लगाव बढ़ना, मेरी बीमारी, अम्मा की बीमारी, घर की स्थिति में बदलाव, अम्मा की नापसंद से बड़े की शादी, फिर लगातार उसी नापसंदगी के नज़रिए से बड़ी भाभी को देखना, अम्मा से बिन पूछे मँझले की शादी, अम्मा की उपेक्षा, अम्मा की कंजूसी, झुँझलाहट, बीमारी, नाराज़गी, बड़े जीजाजी की मृत्यु, छोटे की चिंता, उसकी शादी अम्मा की नापसंद से होना आदि बातें मेरे मस्तिष्क में लगातार घूमती रहीं।

अपना स्टेशन देखते ही मुझे हूक-सी उठी और मैं रो ही पड़ा। मुझे अम्मा बहुत याद आ रही थीं पता नहीं अम्मा के साथ कब क्या हुआ, क्या मुझे आख़िरी दर्शन नहीं हो पाएँगे।

आँसू पोछ कर मैं रेल से उतरा। हम लोग घर ओर चले तो बहुत से परिचित मिले जिन्होंने यह तो कहा कि 'आ गए तुम' पर किसी ने यह नहीं कहा कि अम्मा का जाना बहुत बुरा हुआ।

घर पहुँचते ही मुझे ज़बरदस्त झटका लगा घर में ताला लगा था और मेरे चाचाजी के घर बड़ी भीड़ इकट्ठा थी।

मैं घबराया हुआ-सा वहाँ पहुँचा तो अंदर से किसी औरत के रोने की तेज़ आवाज़ आई, मेरा दिल पसीज उठा, मुझे फिर एक ज़बरदस्त झटका लगा, अम्मा ठीक सामने बैठी थीं जो मुझे देख बाहर आ गई थीं और मुझे सीने से लगा कर सिर पर हाथ फेरने लगी थीं। मैं बहुत हिचकी भर-भर कर रो रहा था।

अब पता लगा कि हमारी चाची नहीं रही, अरुण से उस दिन चाचाजी के लड़के ने जो कुछ कहा था अपनी अम्मा के बारे में कहा था, मेरी अम्मा के बारे में नहीं, उसकी अम्मा यानि चाची और विगत रात वे नहीं रही थीं।

अम्मा मेरे कान में कह रही थीं कि घर चलो, कुछ खा-पी लो, यहाँ तो रोना लगा ही रहेगा, खा-पी के शमशान चले जाओ वहाँ चाची को पाँच लकड़ियाँ दे कर सब के साथ लौटना।

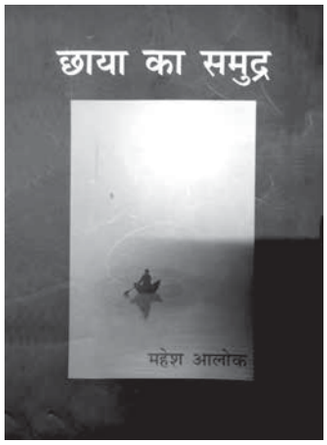
अब मुझे अम्मा पर फिर से गुस्सा आ रहा था पर पता नहीं लग रहा था कि इस गुस्से का कारण क्या था। ❑



काव्य-संवेदना का नया क्षितिज

मीना बुद्धिराजा

आधुनिक हिन्दी कविता में आठवें दशक के उत्तरार्ध से सामाजिक और व्यैक्तिक संवेदना के केंद्रिय बिंदुओं में आ रहे बदलाव की सूचना आने लगती है और नौवें दशक में तो इनको नए सिरे से पढ़े जाने का आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक संश्लिष्टताओं से बना नया आधार भी तेज़ी से उभरने लगा। भूमंडलीकरण से मानवीय सभ्यता की गतिशीलता में अंतर्निहित भटकाव जिसने मनुष्य को नागरिक से उपभोक्ता में सीमित हो जाने पर विवश कर दिया और शब्द सत्ता में सन्निहित मानवीय संवेदनाओं और मूल्यबोध की निरर्थकता का बोध और बाज़ार का दबाव इतना ज़्यादा होने लगा कि इस कोलाहल में सच और संघर्ष की अभिव्यक्ति कठिन होने लगी। इन भयावह और निर्मम स्थितियों में नि:शब्द समय को अपने बौद्धिक साहस और सृजनशील मार्मिकता से पकड़ने में कविता की भूमिका असंदिग्ध है।



नब्बे के दशक के बाद जिन काव्य व्यक्तित्वों की विशिष्ट स्वर में चर्चा हुई उनमें महेश आलोक समकालीन कविता के परिदृश्य में एक अलग सशक्त पहचान रखते हैं। यह समय सिर्फ़ कविता के मूल स्वर बदलने का नहीं है। भारतीय समाज, उसकी संरचना और राजनीति सब कुछ अनिवार्यत: बदल रही थी। इन बदलावों के कारण कविता की संवेदनात्मक प्रक्रिया और संरचना भी बदल गई। इसको उस समय विकसित हो रही काव्य धारा में देखा जा सकता है, जिनमें कवि महेश आलोक का पहला कविता-संग्रह भी रहा है। उनका दूसरा नया कविता-संग्रह 'छाया में समुद्र' सेतु प्रकाशन से इस वर्ष प्रकाशित हुआ है जो लगभग 15 वर्षों के अंतराल के बाद आया है और निश्चित रूप से यह उनकी काव्य दृष्टि का नया विस्तार है। ये कविताएँ कवि के गहरे आत्मनिरीक्षण की क्षमता से विकसित हुई हैं परंतु यह आत्मविमर्श सिर्फ़ आत्मकेंद्रिक नहीं है। इस निरीक्षण में कवि दुनिया की सारी विसंगतियों के लिए सिर्फ़ अपने परिवेश और दूसरों को ही ज़िम्मेदार नहीं ठहरा सकता या सभी विडंबनाओं की ओर उँगली उठाकर ही मुक्त नहीं अनुभव करता। इस क्रम में वह अपनी भागीदारी और दायित्व बोध को भी सुनिश्चित करता है जो इन कविताओं का मुख्य स्वर है-

यह सब करते हुए मैं दुखी नहीं था / जबकि ऐसा लग रहा था कि मुझे / दुखी होना चाहिए था उस समय।

कविता हमेशा एक नैतिक विकल्प के रूप में उपस्थित रहती है। ये कविताएँ किसी विचारधारा से आक्रांत नहीं बल्कि जीवन प्रक्रिया से आवेशित हैं और इसके पीछे समकालीन कविता की भरपूर वैचारिक समझ है और जिसमें कलात्मक शर्तों से अविभक्त प्रतिबद्धता की चेतना का सहज विस्तार मिलता है। यह आज की कविता का सबसे प्रबल और प्रखर पक्ष लगता है जो इन कविताओं में बहुत सूक्ष्मता से अभिव्यक्त हुआ है-

किसके हिस्से का दुख मेरा दुख है / दुख जो कि बहुवचन में दौड़ता है उसका पिछला शरीर / नदी की सबसे छोटी मछली के आँसुओं में डूबा है / और नदी का पानी / तलहटी में पृथ्वी बन गए दुख के / हाथों की अँगूठी बन कर चमक रहा है सतह पर / जिसे लहरें उछालती हैं / दुख के अंतरिक्ष में- / गुरु कबीरदास जी / किसके हिस्से का दुख मेरा दुख है।

मानव जीवन की सभी संवेदनाएँ, परिवेश, प्रकृति, समाज, मानवीय संबंध और व्यवस्था का समूचा तंत्र ही जैसे निर्ममता और छद्म का शिकार है। इसलिए मनुष्य की अस्मिता को कवि अपनी काव्य-प्रक्रिया में समावेशी और समग्र दृष्टि के साथ आत्मसात् करता है। प्रकृति के संगीत, विध्वंस और टूटन के बीच जीवन के अनेक अर्थगर्भित रहस्य खुलते हैं-

छाया का समुद्र फैलता जा रहा है पृथ्वी पर / और मैं कूदता हूँ छाया में / पृथ्वी की अंतिम हिचकी से पूर्व / तमाम साँसों को स्वाभाविक लय में / लाने के लिए / कैसे बचाए जा सकते हैं / दादा-दादी पत्नी-बच्चे और कबीर / केदारनाथ सिंह इत्यादि / कहना मुश्किल है / कौन कितना अलग है / एक-दूसरे की छाया से / अगर बचा है नमक / बची रहेगी पृथ्वी।

इन विशाल छायाओं के समुद्र में अर्थात् सृष्टि में सभी मनोभाव समाहित हैं। भौतिक जगत और मानसिक अंतश्चेतना दोनों

संपर्क : मो. 9873806557, ई-मेल : meenabudhiraja67@gmail.com

यथार्थ यहाँ अंतर्गुंफित हैं। जहाँ विरोधों का सामंजस्य भी बहुत मद्धिम स्वर में बिना किसी बोझिलता और दबाव के उभर कर आता है जो इन कविताओं का अपना मुहावरा है, विशिष्ट पहचान है। कवि मानव जाति को उसके पूरे परिवेशगत सौंदर्य के साथ अनुभव करना और देखना चाहता है। फैंटेसी और सपाटबयानी के बीच इन कविताओं का तीसरा आयाम बनता है जो मौलिक होने के साथ ही कविता की आंतरिक लय के रूप में कविता की पुनर्वापसी का भी संकेत है। इनमें आत्मीय अनुभवों और गहन संवेदना के साथ समकालीन कविता का जो परिसर बनता है वह ठोस और विश्वसनीय है। जहाँ स्मृतियों का लोक एक नए भाष्य प्रतीकों में पुनर्जीवित हो उठता है–

मैं जितना-जितना अध्यापक हूँ / उतना-उतना कवि नहीं हूँ / बंदरों की प्रजाति से मिलती-जुलती मेरी लीलाएँ / हज़ारों वर्ष पहले की गई आदिम लीला से / उतनी भिन्न नहीं हैं जितना मेरी पत्नी के विचार / ठीक-ठाक नहीं कह सकता / कितना-कितना आदिम हूँ कितना-कितना आज / और अचानक मेरी पत्नी और चिड़िया आती है / और कूद जाती है कविता के इतिहास में / मैं गंगा पर एक कविता लिखता हूँ।

कवि की कोशिश है कि मनुष्य के दुख, संघर्ष और उदासी नाटकीय मुद्राएँ न लगें बल्कि वह अपनी सच्चाइयों के साथ कविता में आकर इस अर्थहीन आभासी यथार्थ की उत्सवधर्मिता का प्रतिकार कर सके जो वास्तविक से निरपेक्ष स्वायत्त संसार निर्मित कर वर्चस्वादी शक्तियों के पक्ष में शब्दों का इस्तेमाल करती है। वे सभी भय, द्वंद्व, तनाव और दबाव जिस मानवीय अर्थवत्ता के क्षरण से पैदा हुए हैं। ये कविताएँ उसी अर्थ को बचाने की कोशिश करती हैं जिनमें गहरे मानवीय संकेत, प्रतीक और गहन बिंबधर्मिता भी है जो कहीं-कहीं केदारनाथ सिंह और शमशेर जैसे प्रतिष्ठित कवियों के शिल्प की भी याद दिलाती है–

थोड़ा समय चाहिए मैं उतना डरा हुआ नहीं हूँ / जितना मुझमें साहस है / थोड़ा समय चाहिए कि पृथ्वी की आँख इतनी खुल सके / कि उसकी पलकों पर बैठ कर निहार लूँ अपनी ग़लतियों को / मेरे दिमाग़ में इतना गुलाब है कि उससे / आग की खुशबू आती है / मेरे खून में गुलाबों वाली खुशबू नहीं है / सीढ़ियाँ जो आकाश और सूरज को एकसाथ जोड़ती हैं / अंतरिक्ष में।

इन कविताओं में विचार, कोई ओढ़ी हुई दार्शनिकता जैसी बोझिल चीज़ के रूप में नहीं, बल्कि अनुभूति और संवेदना के स्तर आत्मीय होकर यथार्थ का साक्षात्कार कराते हुए आते हैं। यह दृष्टि मूल्यबोध ही नहीं कवि के काव्य विवेक को भी निर्धारित करती है जहाँ बेहतर मनुष्य और समाज के लिए शोषण और अन्यायमुक्त परिवेश का स्वप्न है और उसके लिए संघर्ष भी जो कविता का दायित्व भी है। 'चीटियाँ', 'हत्या', 'हमले के बाद मेरा घर शुक्रिया', 'दस्तक', 'कौन पढ़ता है कविताएँ', 'दस्तक ज़रूरी है', 'क्या फ़र्क़ पड़ता है' जैसी बहुत-सी कविताएँ सामाजिक विसंगतियों, भ्रूण हत्या, स्त्री यौन-हिंसा जैसे संवेदनशील मुद्दों को बहुत संजीदगी से उठाती हैं। एक अच्छी कविता अभी भी सत्ता की ताकतों और मोर्टार से ज्यादा जरूरी है। सृष्टि में लघु और महत के अदृश्य संबंध को दृश्य बनाए रखने के लिए कवि सबसे क्रूर समय में भी कठिन होते भरोसे और प्रेम को ही बचाना चाहता है जो इन कविताओं का निहित उद्देश्य है–

बहुत कुछ रखना चाहता हूँ अपने प्रेम में / बसंत के फूलों जितनी उम्मीद / साँसों की खुशबू से निकलती सारंगी की कोई नई धुन / नया राग जिसे अभी तक न गाया-बजाया हो किसी ने

किसी मंगल ग्रह पर भी नहीं / शतरंज जैसी चालों को प्रेम में रखना / ग़लत होगा इस समय / चिड़िया के पंखों के भीतर भरी हुई इच्छा / उड़ान वाली हवा और लक्ष्य तक पहुँचने की कला / पृथ्वी जितना धैर्य / और उसकी देह जितनी गरमी / कठिन समय में अंतरिक्ष का ताला खोलने वाली चाबी / और समुद्र के दुख जितने आँसू...

इन कविताओं में कवि की वह हताशा और विकलता भी प्रतिबिंबित होती है जहाँ आधुनिक सभ्यता की चमक-दमक के पीछे की उदासी, रिक्तता और अँधकार को कवि देखता है। उसकी गहन दृष्टि मानवीय अस्मिता के बुनियादी प्रश्नों के सीधे-सपाट जवाब नहीं देखती बल्कि इन विसंगतियों में, गुत्थियों के भीतर उतरने का नैतिक साहस कविता में करती है। कविता में मनुष्य को बड़ा बनाने की ज़रूरत अभी भी सबसे ज़्यादा है, यह बेचैनी कवि में ही नहीं कविता में भी उतनी ही है। इस संग्रह की सबसे लंबी और अंतिम कविता कई स्तरों पर यह ज़िम्मेदारी निभाती है जिसमें आत्मसंवाद ही नहीं, हमारे समय के जटिल यथार्थ की गवाही भी है। इस कविता में अनेक तहें और अर्थसंकेत हैं जहाँ सबसे अधिक अपने मनुष्य होने का मार्मिक सत्यापन है जिनमें कवि जैसे कविता को पुनर्सृजित करता है–

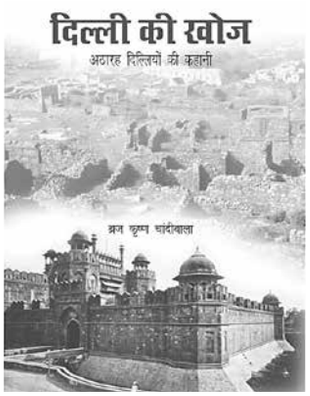
बीते तमाम वर्षों से क्या कर रहा हूँ / कविता में / पेड़ों को बचाता हूँ और वे कटते हैं / तालाब खुदवाता हूँ और कुछ ही वर्षों में बन जाता है / वहाँ शॉपिंग कॉम्प्लेक्स / बहुमंज़िला इमारतें मेरी कविताओं को गिराती हैं / पृथ्वी की नींद और सपनों पर दस्तक देने से पहले / मोर्टार के हमले से पहले चिड़िया ने मुझे / एक रहस्य से अवगत कराया था कि

सदियों से उड़ते हुए कविता में घोंसलों से अधिक सुरक्षित है वह / पेड़ ने काग़ज़ बनने की पीड़ा सह ली थी कविता में / अचानक लोहों को मोम की तरह / पिघलते देख बचा ही लेता हूँ / चिड़िया पेड़ और मनुष्य का / मोम जैसा दिल / मोर्टार और आधुनिक विज्ञापन के हमले से / बचने के लिए।

एक समृद्ध भाषा-शिल्प के नए अन्वेषण में सघन बिंबों को रचती ये कविताएँ अपनी विशिष्ट अंतर्ध्वनियों, अनूगूँजों और उसकी आंतरिक लय में विन्यस्त अर्थों में आज की कविता के कई नए आयामों का संकेत करती हैं और कविता की उसके फ़ॉर्म में पुनर्वापसी का भी। कविता में मानवीय संबंधों को बचाने, पहाड़ और नदियों को बचाने, सबसे क्रूर समय में करुणा, प्रेम और संवेदना को बचाने, जड़ होती मनुष्यता में अपने विवेक को बचाने और कविता में जीवन की तमाम संभावनाओं को बचाने की कोशिश करती ये कविताएँ स्वप्न और यथार्थ के बीच का संघर्ष अपनी पूरी ईमानदारी और सृजनात्मक प्रतिबद्धता के साथ करती हैं जो इस कविता-संग्रह के रूप में समकालीन हिन्दी कविता की सार्थक उपलब्धि है।

(कृति : 'छाया का समुद्र' कवि : महेश आलोक; प्रकाशक: सेतु प्रकाशन, पटपड़गंज, दिल्ली; मूल्य : 145 रुपये) ❑

• पुस्तक परिचय



दिल्ली की खोज : अठारह दिल्लियों की कहानी

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

लेखक : ब्रज कृष्ण चाँदीवाला

पृष्ठ : 432

मूल्य : 265 रुपये

'दिल्ली की खोज' पुस्तक में लेखक ने दिल्ली के बनने और बिगड़ने के बारे में विस्तार से उल्लेख किया है। यूँ तो हिंदुस्तान में अनेक ऐतिहासिक स्थान, तीर्थ एवं वाणिज्य केंद्र हैं जो अपनी-अपनी जगह अपना गौरव रखते हैं मगर दिल्ली की बात जुदा है। दिल्ली का इतिहास भी बहुत उथल-पुथल भरा रहा है। यह शहर कई बार उजड़ा और कई बार बसा। महाभारत काल से लेकर आधुनिक काल तक अनेक राजाओं और शासकों ने दिल्ली के विभिन्न भूखंडों को अपनी राजधानी बनाया। कहा जाता है कि वर्तमान दिल्ली अठारहवीं दिल्ली है। इस अठारह दिल्लियों का ब्योरा और उससे जुड़े इतिहास को बड़े परिश्रम से समेटा है दिल्ली के समाजसेवी और लेखक स्व. ब्रज कृष्ण चाँदीवाला ने। इस पुस्तक को पढ़कर पाठकों को इस महान शहर के संपूर्ण इतिहास और महागाथा का पूरा परिचय मिल जाता है, जोकि अब यह एशिया के एक विशाल और चहल-पहल भरे महानगर के रूप में विकसित हो गया है।

पुस्तक के शीर्षक से ही दिल्ली की गुज़री दास्तान को जानने के लिए किसका दिल लालायित न होगा जिसमें एक नहीं सत्रह बार उलट-फेर हुए और अब गणतंत्र राज्य की यह अठारहवीं दिल्ली है। तीन बार दिल्ली हिंदू काल में पलटी, बारह बार मुस्लिम काल में और दो बार ब्रिटिश काल में। दिल्ली की इस उलट-फेर पर अंग्रेज़ी भाषा में बहुत-सी पुस्तकें लिखी गई हैं। उर्दू में कई पुस्तकें मौजूद हैं, मगर हिन्दी में अभी तक कोई ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई जिससे यहाँ की यादगारों का पता लग सके। इस कमी को पूरा करने के लिए 'दिल्ली की खोज' नाम की यह पुस्तक दिल्ली में रहने वालों और बाहर से आने वालों के हाथों में पेश की जा रही है ताकि इसके पन्नों पर एक निगाह डालकर यहाँ की गुज़री दास्तान की कुछ वाक़फ़ियत हासिल की जा सके।

लेखक ने चित्रात्मक और वर्णनात्मक शैली के साथ-साथ उर्दू भाषा का खुल कर प्रयोग किया है। उस उर्दू का जो ख़ासतौर से दिल्ली में पनपी। इससे यह पुस्तक और भी जीवंत हो गई है। इस पुस्तक को पढ़ना इतिहास के गलियारों में चहलकदमी जैसा लगता है। पुस्तक को अद्यतन बनाने लिए इसमें दिल्ली में आए नवीन परिवर्तनों को भी शामिल किया गया है।

यह पुस्तक का तीसरा संस्करण है। पुस्तक के ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए इसकी तत्कालीन जानकारियों को यथावत् रखा गया है।

-प्रस्तुति : **कान्ता रानी**

ज़िंदगी कैसी है पहेली

पृष्ठ 50 से आगे

ने उन्हें मिलाया उस समय के बड़े संगीत निर्देशक सलील चौधुरी से। सलील चौधुरी ने उनकी प्रतिभा को पहचाना। जब हृषिकेश मुखर्जी 'आनंद' बना रहे थे तो सलील चौधुरी ने उन्हें योगेश से मिलवाया। गुलज़ार 'आनंद' का एक गीत लिख चुके थे "मैंने तेरे लिए ही सात रंग के सपने चुने।' लेकिन सलील चौधुरी के कहने पर हृषिकेश दा ने योगेश का गीत लिया, 'ज़िंदगी कैसी है पहेली' और इसी गीत के साथ योगेश की ऐसी पहचान बनी कि राजकपूर ने भी उनकी खोज की। इसके पहले बासु भट्टाचार्य से भी सलील ने उन्हें मिलवाया था लेकिन बासु भट्टाचार्य ने यह कह कर उस समय टाल दिया कि जो वह चाह रहे हैं, वह गुलज़ार ही लिख पाएँगे, और कोई नहीं लेकिन सलील उनसे अपने कॉम्पोज़िशन पर लिखवाते रहे।

जब फ़िल्म 'आनंद' का गाना हिट हुआ तो योगेश भी हिट हो गए। उसके बाद एक से एक हिट गाने दिए- 'कहीं दूर जब दिन ढल जाए, साँझ की दुल्हन बदन चुराए' या फिर फ़िल्म 'मंज़िल' के लिए 'रिमझिम गिरे सावन, सुलग-सुलग जाए मन' या फिर फ़िल्म 'रजनीगंधा' के लिए 'रजनीगंधा फूल तुम्हारे, महके यूँ ही जीवन में' या फिर फ़िल्म 'छोटी सी बात' के लिए 'जानेमन-जानेमन तेरे दो नयन'...इस तरह के कई रूहानी गाने उन्होंने दिए। उनके गुज़र जाने से फ़िल्म संगीत व गीत को बड़ा नुकसान हुआ है। लता मंगेशकर ने उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए कहा है, "दिल को छू लेने वाला गीत लिखने वाले कवि योगेशजी का स्वर्गवास हो गया। ये सुनकर मुझे बहुत दुख हुआ। योगेशजी का लिखा गीत मैंने गाया है। वे बहुत शांत और मधुर स्वभाव के इंसान थे।" यह बात बिल्कुल सही है कि उन्हें कभी इस बात का गुमान नहीं था कि वे एक अच्छे गीतकार हैं और हमेशा अपने को बाक़ी गीतकारों से कमतर आँकते थे। हमेशा कहते थे कि जो गुलज़ार, शकील बदायूँनी वग़ैरह ने लिखा है, उनके सामने वे कुछ भी नहीं लेकिन फिर वही बात कि ज़िंदगी एक पहेली है। हाँ, ये सच है, जितना सम्मान, जितनी ख्याति उन्हें मिलनी चाहिए थी, नहीं मिली। ❑

हमारे प्रकाशन

गांधी साहित्य, भारतीय इतिहास,
जाने.माने व्यक्तियों की जीवनियां, उनके भाषण और लेखन,
कला एवं संस्कृति, आधुनिक भारत के निर्माता
शृंखला की पुस्तकें, बाल साहित्य



चुनिंदा ई-बुक एमेज़ॉन और गूगल प्ले पर उपलब्ध

प्रकाशन विभाग

सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए कृपया **www.bharatkosh.gov.in** पर जाएं।

ऑर्डर के लिए कृपया संपर्क करें : फोन : 011-24367260, 24365610 ई-मेल : businesswng@gmail.com

बेवसाइट : **www.publicationsdivision.nic.in**

@ DPD_India

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) – 05/3222/2018–20 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)–49/2018–20
Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2018-20 दिल्ली डाक आर एन आई 701/57
Licenced U (DN) - 49/2018-20 to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal RNI 701/57
● 10 जून 2020 को प्रकाशित ● 21–22 जून 2020 को डाक द्वारा जारी ● वार्षिक मूल्य : ₹ 230



प्रकाशक व मुद्रक : मोनीदीपा एम. मुखर्जी, महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजूकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित । संपादक : फरहत परवीन